प्रकाशक
कबीर पारख संस्थान
संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद—211011
दूरभाष : (0532) 2436820, 2436020, 2436100
Visit us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार वि० सं० 2049, सन् 1992
पांचवीं बार वि० सं० 2066, सन् 2009
सत्कबीराब्द 611

ISBN : 81-8422-055-3

© **कबीर पारख संस्थान**

मूल्य : 140.00 रुपये

मुद्रक
इण्डियन प्रेस प्रा० लि०
पन्ना लाल रोड, इलाहाबाद

Sansar Ke Mahapurush : ABHILASH DAS

समर्पित

उन पाठकों के कर-कमलों में जो संसार
के महापुरुषों के जीवन-उपवन
के सुमन-सौरभ के
मधुकर
हैं।

निवेदन

मैं जब भी किसी आत्मकल्याण तथा लोककल्याण में समर्पित महापुरुष का जीवन पढ़ता हूं, तो श्रद्धा से भर जाता हूं। भूतकाल की यदि कुछ हमारे लिए थाती है तो महापुरुषों का जीवनादर्श तथा उनकी वे कृतियां जो मानव को पाशविक धरातल से उठाकर मानवीय तथा आत्मिक धरातल पर स्थित करती हैं।

देश, काल, परिस्थिति, वातावरण, रुचि, स्वभाव, योग्यता आदि की विभिन्नता होने से संसार के सन्तपुरुषों एवं महापुरुषों के विचारों, सिद्धान्तों एवं शैलियों में अन्तर रहा है, आज है तथा आगे रहेगा। परन्तु उनके शाश्वत स्वर एक समान सबके लिए मंगलकर हैं और उन सभी का उद्देश्य एक है आत्मकल्याण एवं लोककल्याण। अतएव जो दैहिक बुद्धि एवं संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठकर आत्मकल्याण में लगने तथा दूसरों को लगाने वाले हैं और किसी प्रकार मानवता के हित में समर्पित हैं, वे महापुरुष चाहे जिस देश, काल तथा परिस्थिति के हों, मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह उनके प्रति श्रद्धावान हो और विवेकी बनकर उनके कल्याणकारी आदर्शों से प्रेरणा ले। इसमें मत, मजहब, प्रांत, देश, भाषा आदि आड़े नहीं आना चाहिए।

मैंने 'पारख प्रकाश' त्रैमासिक पत्र में समय-समय से महापुरुषों की जीवनियां लिखकर छापी हैं। उन्हीं का यह संग्रह पुस्तकाकार रूप में आपके सामने प्रस्तुत है। कुछ कारणों से भारतेतर देशों के सन्तों एवं महापुरुषों की जीवनियों पर ज्यादा काम नहीं हो सका। भारत के ही अभी उच्चस्तर के कई सन्तों, स्वतन्त्रता के लिए अपना सब कुछ समर्पित करने वाले उच्चतर राष्ट्रभक्तों एवं कई क्षेत्रों में मानवता के कल्याण में समर्पित मनीषियों के विषय में काम नहीं हो सका है। संस्थान के साधक इस दिशा में काम कर सकें तो मंगलकर होगा।

जिन पर टूटा-फूटा काम हुआ है और इस ग्रन्थ में संग्रहीत है उनमें रही हुई त्रुटियों पर सम्माननीय पाठक अवश्य निर्देश करने की कृपा करें जिससे आगे उन पर पुनर्विचार किया जा सके।

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद — विनम्र
कुआर, अमावस 2049 — **अभिलाष दास**

दूसरा संस्करण

अबकी बार सात महापुरुषों की जीवनियां इस पुस्तक में और जोड़ दी गयी हैं। इसलिए इसकी उपादेयता बढ़ गयी है। जिनके पास पहले संस्करण की जिल्द हो, उन्हें भी इसे रखना चाहिए।

—लेखक

पांचवां संस्करण

पिछले संस्करणों में अक्षर छोटे थे, इसलिए अबकी बार कुछ बड़े अक्षरों में कंपोज कराकर छापा जा रहा है। इससे पाठकों को सुविधा होगी। मेरी अन्य पुस्तकों की तरह इस पुस्तक का भी आदर सभी वर्ग की तरफ से हुआ है। इसी का फल है कि इसका पांचवां संस्करण पाठक के सामने है।

अबकी बार अमेरिका के प्रसिद्ध मानवतावादी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का जीवन-दर्शन 18वें संदर्भ के रूप में आया है। इसके साथ चीन के प्राचीन दार्शनिक संत लाओत्ज़े के विषय में 30वां आलेख आ गया है जो ब्रह्मचारी देवेंद्र का लिखा हुआ है और 'ताओ-ते-चिंग' के भाष्य में भूमिका के संदर्भ में आया है। इस प्रकार इस संस्करण में दो महान पुरुषों के जीवन-दर्शन जुड़ गयें हैं।

—लेखक

अनुक्रमणिका

1.	महर्षि अगस्त्य	...	11
2.	महर्षि वेदव्यास	...	14
3.	महर्षि कपिल	...	18
4.	महाराज श्रीराम	...	25
5.	महाराज श्रीकृष्ण	...	36
6.	महात्मा जरथुश्त्र	...	55
7.	वर्धमान महावीर	...	59
8.	तथागत बुद्ध	...	63
9.	महापुरुष कनफ्यूशियस	...	81
10.	महात्मा सुकरात	...	85
11.	महात्मा ईसा	...	90
12.	हजरत मुहम्मद	...	97
13.	स्वामी शंकराचार्य	...	117
14.	सद्‌गुरु कबीर साहेब	...	123
15.	गुरु नानक	...	165
16.	चैतन्य महाप्रभु	...	172
17.	राजा राममोहन राय	...	182
18.	अब्राहम लिंकन	...	195
19.	महर्षि कार्ल मार्क्स	...	227
20.	स्वामी दयानंद सरस्वती	...	243
21.	महात्मा ज्योतिराव फुले	...	253
22.	स्वामी विवेकानंद	...	270
23.	महात्मा गांधी	...	295
24.	स्वामी रामतीर्थ	...	325
25.	रमण महर्षि	...	332
26.	पेरियार ई० वी० रामास्वामी	...	345
27.	संत श्री विशाल साहेब	...	362
28.	डॉ० भीमराव अम्बेडकर	...	376
29.	महापंडित राहुल सांकृत्यायन	...	392
30.	संत लाओत्ज़े	...	407

सद्गुरवे नमः

संसार के महापुरुष

1

महर्षि अगस्त्य

प्रयाग से कन्याकुमारी तथा सिंहल, जावा, सुमात्रा आदि एशिया के बड़े भू-भाग में आर्यत्व का प्रचार करने वाले महर्षि अगस्त्य का नाम वैदिक, पौराणिक साहित्य तथा जनमानस में अमर है। उनके महामहिम व्यक्तित्व से प्रभावित होकर भारतीय पंडितों ने दक्षिण में उदय होने वाले एक तारे का नाम ही रख दिया है अगस्त्य।

1. महर्षि अगस्त्य का जन्म

ऋग्वेद सातवें मंडल के तैंतीसवें सूक्त के अनुसार उर्वशी अप्सरा मित्र तथा वरुण—इन दो महापुरुषों के यहां उन्हीं दिनों निमन्त्रित रहती थी। इसी बीच में वसिष्ठ तथा अगस्त्य उर्वशी अप्सरा से पैदा हुए। ऋग्वेद (7/33/13) में अगस्त्य का नाम 'मान' है। शायद अगस्त्य पैदा होने के बाद मिट्टी के घड़े-जैसे पात्र में रखे गये हों, इसलिए उनका नाम 'कुंभज' भी पड़ा। वाल्मीकीय रामायण (7/80/1) में कहा गया 'महर्षिः कुम्भसम्भवः।' उर्वशी से पैदा होने

से 'और्वशेय' तथा उनके पिता मित्र या वरुण होने से 'मैत्रावरुणि' भी उनके नाम पड़े। उन्होंने प्रयाग के अपने आश्रम से चलकर विंध्यपर्वत के दुर्गमपथ को जीता था। इसलिए उनका नाम 'विंध्यकूट' भी पड़ा। उन्होंने विदेशों में आर्यत्व के प्रचार के लिए समुद्र की लम्बी-लम्बी यात्राएं की थीं। इसलिए कहा गया कि अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया था। वस्तुत: उन्होंने समुद्र पर विजय पायी थी। इसलिए उनके नाम 'समुद्र चुलुक' अर्थात समुद्र के जल को चुलक (अंजली) में पी लेने वाला तथा 'पीताब्धि' अर्थात समुद्र को पी लेने वाला पड़े। उन्होंने भारत के बाहर पूर्व तथा दक्षिण में आर्यत्व का प्रचार किया, इसलिए उनका एक नाम 'आग्नेय' पड़ा।

महर्षि अगस्त्य का उपाख्यान महाभारत के वनपर्व के 96 से 99 अध्यायों[1] तक दिया गया है, जो केवल पौराणिक पक्ष से रंगा है। महर्षि अगस्त्य का मूल आश्रम ''प्रयाग के समीप यमुना-तट पर बताया जाता है।''[2] इसके पास कहीं की एक पर्वत-चोटी का नाम भी 'अगस्त्यपर्वत' था। महाभारत (वनपर्व) के अनुसार महर्षि अगस्त्य की पत्नी 'लोपामुद्रा' विदर्भनरेश की पुत्री थीं। ऋग्वेद (1/179) में लोपामुद्रा और अगस्त्य का संवाद आया है।

वेद-पुराणादि ग्रंथों से निष्कर्ष निकलता है कि महर्षि अगस्त्य वैदिक आर्यमत के महान प्रचारक थे। अगस्त्य का व्यक्तित्व अथाह सागर-जैसा था। उनके मन में आर्यत्व-प्रचार की तीव्र अभिलाषा थी और उन्होंने मध्य भारत होते हुए दक्षिणी भारत तथा समुद्र-पार जावा-सुमात्रादि अनेक द्वीपों एवं देशों में अपनी प्रचार-ध्वजा फहराई थी।

2. प्रयाग से दक्षिण प्रस्थान

महर्षि अगस्त्य जब प्रयाग से दक्षिण की तरफ चले, तब पहले विंध्यपर्वत मिला जो रास्ता रोक रहा था। उन्होंने उसे सदैव के लिए परास्त किया और वह अगस्त्य के चरणों में झुक गया। अर्थात उन्होंने अपने अथक प्रयास से विंध्यपर्वत के बीच रास्ता बनाया। इसीलिए उनका नाम 'विंध्यकूट' पड़ा।

आगे चलकर उन्हें मणिमती नगर में 'इल्वल' तथा 'वातापि' नाम के दो महान वैभवशाली एवं विद्वान राक्षस मिले जो संस्कृत भाषा में पारगत थे। ये श्राद्ध में ब्राह्मणों को निमंत्रित कर उन्हें भोजन भी कराते थे, परन्तु ये ब्राह्मणों को धोखा देकर उन्हें मार देते थे, अतएव ब्राह्मणों के शत्रु थे। महर्षि अगस्त्य ने इन दोनों वीरों को परास्त किया। दक्षिण भारत में अगस्त्य द्वारा आर्यत्व के प्रचार के सम्बन्ध में वाल्मीकीय रामायण आरण्यकांड के ग्यारह से तेरह सर्गों में अच्छा प्रकाश मिलता है।

---

1. **गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण।**
2. **हिन्दू धर्मकोश, अगस्त्य।**

महर्षि अगस्त्य ने तमिल प्रदेश के मलयपर्वत पर अपना आश्रम बनाकर वहां प्रचार किया। ''दक्षिण भारत में अगस्त्य का सम्मान विज्ञान एवं साहित्य के सर्वप्रथम उपदेशक के रूप में होता है। वे अनेक प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं। कहा जाता है, प्रथम तमिल-व्याकरण की रचना अगस्त्य ने ही की थी। वहां उन्हें अब भी जीवित माना जाता है जो साधारण आंखों से नहीं दिखते तथा वे त्रावनकोर की सुन्दर अगस्त्य पहाड़ी पर वास करते माने जाते हैं; जहां से तिन्नेवेली पवित्र पोरुनेई अथवा ताम्रपर्णी नदी का उद्‌भव होता है।''[1]

3. भारत के बाहर

महर्षि अगस्त्य दक्षिणी भारत से समुद्र पार करके सिंहल, जावा, सुमात्रा आदि अनेक देशों में गये और वहां पर आर्य-धर्म का प्रचार किये। आज भी दक्षिणी भारत तथा समुद्र के पूर्वी द्वीप-समूहों में महर्षि अगस्त्य का नाम प्रसिद्ध है तथा जावा द्वीप में उनकी मूर्ति मिली है। वारुणद्वीप (बोर्नियो) के 'कोंबोङ्' नाम की जगह में अगस्त्य ऋषि की मूर्ति मिली है।

जावा द्वीप में सन् 732 ई० का खुदा हुआ एक लेख मिला है जिसमें अगस्त्य ऋषि का दक्षिणी भारत में 'कुंजर-कुंज' नाम का आश्रम बताया जाता है। ईस्वी सन् 863 के जावा की भाषा में एक खुदे लेख में बताया गया है कि अगस्त्य के वंशज जावा देश में जाकर बस गये हैं। शायद ईस्वी 9वीं शताब्दी तक महर्षि अगस्त्य का मत जावा आदि द्वीपों में प्रसारित रहा।

गुजरात के परिश्रमी व्यापारियों ने जावा में अपना निवास बनाया था। गुजरात तथा भारत के अन्य क्षेत्रों से जावा का आना-जाना बना हुआ था। गुजरातियों में प्रसिद्धि है—

जे जाये जावे ते पाछी नहीं आवे।
ने जो आवे तो परिया-परिया मोती लावे॥

अर्थात जो जावा-देश जाता है वह लौटकर नहीं आता और कदाचित आता है, तो पात्र भर-भरकर मोती लाता है।

महात्मा बुद्ध के बाद तो प्रसिद्ध ही है कि बौद्ध-भिक्षुओं ने पूरे एशिया को बौद्ध-धर्म-प्रचार से प्रभावित किया था। बौद्ध-भिक्षुओं ने सिंहल, जावा, सुमात्रा, श्याम, तिब्बत, चीन, ईरान, ईराक आदि अनेक देशों में जा-जाकर भारतीय धर्मसाधना का शंखनाद किया।

महर्षि अगस्त्य ने प्रयाग गंगा-यमुना के संगम से उठकर विंध्यपर्वत तथा दंडकारण्य लांघते हुए मलय, सिंहल आदि देशों में अपना आश्रम स्थापित

---

1. **हिन्दू धर्मकोश, अगस्त्य।**

करते हुए तथा आर्यत्व का प्रचार करते हुए समुद्र पार जो जावा आदि अनेक पूर्वी द्वीप-समूहों को आर्यमत से प्रभावित किया, वह उनके अपूर्व साहस, मेधा, कार्यक्षमता एवं पौरुष का परिणाम था। उन्होंने इस वेदमन्त्र को चरितार्थ करने का भरसक प्रयास किया कि विश्व को आर्य बनाओ—कृण्वन्तं विश्वमार्यम्।

परंतु ध्यान रहे, यह सब डंडे के बल पर नहीं और न स्वर्ग और मोक्ष देने की एकाधिकार दादागीरी के बल पर उन्होंने किया था, अपितु प्रेम और ज्ञान के बल पर किया था।

2

महर्षि वेदव्यास

तप:पूत विद्या के सागर महर्षि वेदव्यास ने हिन्दू-समाज के धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि को अत्यन्त प्रभावित किया है। वेदव्यास नाम मानस-पटल पर आते ही एक अत्यन्त गरिमामय पुरुष की मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है जिसका व्यक्तित्व घुलकर ज्ञान का महार्णव बन गया है।

1. महर्षि वेदव्यास का जन्म

सत्यवती नाम की एक केवटकुमारी नाव चला रही थी। उसका यही निर्वाह-धंधा था। पराशर[1] मुनि को यमुना पारकर कहीं जाना था। वे नाव पर बैठकर पार होने लगे। उन्होंने ही उस समय सत्यवती को गर्भवती कर दिया।

समय पूरा हुआ। झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाली केवटकुमारी ने यमुना के एक बालुकाद्वीप में बच्चे को जन्म दिया। बच्चे का रंग काला था, इसलिए वह 'कृष्ण' कहा गया और बालू के द्वीप में पैदा हुआ, इसलिए 'द्वैपायन' कहा गया। पूरा नाम रखा गया 'कृष्णद्वैपायन'।

कृष्णद्वैपायन की माता सत्यवती को आगे चलकर हस्तिनापुर के नरेश शांतनु ने अपनी पत्नी बनाया जिससे चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र पैदा हुए। चित्रांगद तो युद्ध में मारे गये तथा विचित्रवीर्य अत्यन्त विषयासक्ति के कारण रोगग्रस्त हो नि:संतान ही मर गये।

2. व्यास की परंपरा

राजा शांतनु की प्रथम पत्नी से देवव्रत नाम का राजकुमार था, जिसको आगे चलकर भीष्मपितामह कहा गया। सत्यवती उसकी सौतेली मां थी। सत्यवती ने भीष्म से कहा कि तुम विचित्रवीर्य की दोनों नि:संतान पत्नियों से बच्चे पैदा करो। परन्तु भीष्म ने पहले ही जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। अत: उन्होंने माता की बात को अस्वीकार दिया। फिर सत्यवती ने अपने जन्माये हुए पुत्र कृष्णद्वैपायन के सामने यह प्रस्ताव रखा। कृष्णद्वैपायन आजीवन अविवाहित, विद्यानुरागी और तपस्वी पुरुष थे; परन्तु राजवंश चलाने

---

1. **पराशर मुनि ऋषि शक्ति के द्वारा एक भंगिनि के गर्भ से पैदा हुए थे–श्वपाकश्च पराशरः।**

के लिए माता की आज्ञा मानकर विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों से एक से धृतराष्ट्र तथा दूसरे से पांडु को पैदा किया और एक दासी से विदुर को भी जन्म दिया। शुकदेवमुनि की भी कृष्णद्वैपायन के पुत्र के रूप में मान्यता है जो किसी शुकपक्षी का चिह्न (टॉटेम) रखने वाली आदिवासी जाति की स्त्री से पैदा हुए थे।

कृष्णद्वैपायन के पुत्र धृतराष्ट्र तथा पांडु हैं, और इनकी संतानें ही कौरव तथा पांडव हैं। इस प्रकार पूरा कौरव-पांडव कृष्णद्वैपायन की ही संतान-परंपरा है। वेदों का संपादन करने के कारण कृष्णद्वैपायन का नाम वेदव्यास पड़ा। व्यास का अर्थ है—संपादक।

3. निराला व्यक्तित्व

उपर्युक्त प्रकार मोटा-मोटी रूप से पूरा कौरव-पांडव कृष्णद्वैपायन की ही सन्तान-परम्परा है; परन्तु इस महापुरुष ने परिवार-बन्धन से रहित तप और विद्या की साधना में ही जीवन बिताया। बताया जाता है कि आपका एक आश्रम बदरिकाश्रम में था, जहां आपने तप और साहित्य-साधना की। आगे चलकर आपने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के तट पर भी एक आश्रम बना लिया था। वहां रहकर वे अपना सम्बन्ध हस्तिनापुर से बनाये रहते थे। पांडु के मरने के बाद उन्होंने हस्तिनापुर आकर माता सत्यवती को पारिवारिक-प्रपंच छोड़कर समाधि में लीन रहने की बात कही थी। कौरव-पांडव की अस्त्र-परीक्षा के समय भी आप हस्तिनापुर में थे। जब पांडव वनवास में थे तब भी कृष्णद्वैपायन ने एकचक्रा नामक स्थान पर उन्हें मिलकर द्रौपदी के स्वयंवर में भाग लेने को कहा था। युधिष्ठिर को राजसूय-यज्ञ करने की सलाह उन्होंने ही दी थी।

कौरव तथा पांडवों का वैमनस्य देखकर उन्हें भावी विनाश का अन्दाज हो गया था और युधिष्ठिर को यह बताकर वेदव्यास जी कैलाश की ओर चले गये थे।

जब जुआ के फल में पांडवों का बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास हुआ, तब भी बीच-बीच में वेदव्यासजी आकर उनसे मिलते रहे और धैर्य बंधाते रहे तथा युक्ति बताते रहे। जब तेरह वर्ष वन में काटकर आने के बाद पांडवों ने दुर्योधन से अपना राज्य मांगा और उन्होंने देने से इंकार किया, तब भी वेदव्यास जी ने दुर्योधन को समझाया था। किन्तु काल-चक्र की ऐसी महिमा कि किसी की सीख न चली। युद्ध के बीच-बीच में भी वे स्थिति को सम्हालने की चेष्टा करते रहे। युद्ध समाप्ति तथा पूर्ण विनाश के बाद उन्होंने धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर को उपदेश देकर धैर्य बंधाया। नीति और धर्म की शिक्षा

देकर युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार किया और उन्हें भीष्म के पास उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजा।

युद्ध के दिन सोलह वर्ष बीत चुके थे। महर्षि वेदव्यास ने धृतराष्ट्र से मिलकर उन्हें तप करने का आदेश दिया। जब अर्जुन द्वारका से श्रीकृष्ण के परिवार के बच्चे, बूढ़े, नारियों तथा कोष को हस्तिनापुर ला रहे थे, तब सरस्वती नदी के पास बसने वाले वनवासियों ने उन्हें पीटकर लूट लिया था। वे युवतियों तथा धन को उड़ा ले गये थे। तब अर्जुन को बड़ा अन्तर्दाह हुआ था और वे महर्षि वेदव्यास के पास अन्तिम बार मिलने गये थे। वेदव्यास जी ने उन्हें समझाया था कि यह कालचक्र है। इससे कोई बच नहीं सकता।

अपने पुत्रों, पौत्रों, प्रपौत्रों तथा उनके लंबे परिवार का विनाश देखकर भी कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास तटस्थ थे। इतनी बड़ी उथल-पुथल की झंझा में वे हिमालय के समान क्षोभ-रहित थे।

4. महर्षि वेदव्यास की कृति

पुराणों के अनुसार अट्ठाइस 'व्यासों' का पता चलता है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास इनमें शीर्षस्थान में हैं। कहा जाता है कि इन्होंने ही वेदों के मन्त्रों का वर्गीकरण करके ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व—इन चार संहिताओं का विभाग किया था। कृष्णद्वैपायन के प्रमुख चार शिष्य थे—पैल, वैशंपायन, जैमिनि तथा सुमंतु। महर्षि ने इन चारों शिष्यों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद संहिताओं का अध्ययन कराया था।

यह माना जाता है महर्षि वेदव्यास ने 8,800 श्लोकों में मूल भारत आख्यान की रचना की। इसमें मुख्य कौरव-पांडवों की कथा थी। इसमें वासुदेव कृष्ण एक सम्बन्धी के रूप में घटनाओं के साथ चित्रित थे। उनमें किसी प्रकार ईश्वरत्व का आरोपण नहीं था। पीछे 'वैशंपायन' ने इसे चौबीस हजार श्लोकों में बढ़ाया और 'सौति' ने एक लाख श्लोकों तक कर दिया।

''आधुनिक आलोचक इस महाग्रंथ (महाभारत) को वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की रचना न मानकर बाद के अनेक संशोधक-संपादक पौराणिक विद्वानों का संकलन या संग्रह कहते हैं। इनके विचार में भारत नामक महाकाव्य मूलतः वीरगाथा के रूप में था। कालांतर में जनसाधारण के धर्म ज्ञान का प्रमाण होने तथा विविध हिन्दू सम्प्रदायों के उत्थान का वर्णन उपस्थित करने के कारण उसकी महत्ता बढ़ गयी। विद्वान इस महाकाव्य के मिश्रण या परिवर्धनात्मक तीन कालों पर एक मत हैं—

(क) भारत महाकाव्य की साधारण काव्यमय रचना : दसवीं से पांचवीं अथवा चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच।

(ख) इस महाकाव्य का वैष्णव आचार्यों द्वारा सांप्रदायिक काव्य में परिवर्तन : दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व।

(ग) महाभारत का वैष्णव ईश्वरवाद, धर्म, दर्शन राजनीति, विधि का विश्वकोश बन जाना : ईसा की पहली तथा दूसरी शताब्दी।''[1]

जो हो, जैसे गंगा में मिलने वाली सारी नदियां अपने नाम-रूप को खोकर गंगा कहलाती हैं, वैसे सारे सत्ताइस या अट्ठाइस व्यास कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास में मिलकर एक ही व्यास लोगों के मानसपटल पर झलकते हैं—कृष्णद्वैपायन वेदव्यास! और महाभारत, पुराण आदि चाहे जिनकी रचनाएं हों, परन्तु वे सब कृष्णद्वैपायन वेदव्यास से जुड़कर महिमान्वित होते हैं। यह महर्षि के विशाल व्यक्तित्व का महत्त्व है कि जो उनका नहीं है, उनका हो गया। उनके नाम से प्रचलित महाभारत का आधा श्लोक लें—''मैं एक गोपनीय बात बताता हूं—मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है—गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।''[2]

---

1. **हिन्दू धर्मकोश, महाभारत।**
2. **महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 299, श्लोक 20।**

3

महर्षि कपिल

'महर्षि कपिल' भारतवर्ष के एक महान ज्ञानी पुरुष का महिमामय नाम है। इस महापुरुष के सांख्यदर्शन ने भारत के सभी दर्शनों को तो प्रभावित किया ही है, विश्व के अन्य दर्शनों को भी प्रभावित किया है। विंटर नीज कहते हैं—''ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्ध है कि 'पिथागोरस' पर भारतीय सांख्य का प्रभाव पड़ा था।''[1]

1. प्राक-इतिहासकाल की गरिमामय उपज

महर्षि कपिल का जीवन-काल कब था तथा उन्होंने कहां जन्म लिया था, इसका उत्तर दे पाना अत्यन्त कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने भारत में जन्म लिया था और वे इतिहास की पकड़ के बाहर के महापुरुष हैं।

वस्तुतः महर्षि कपिल वैदिककाल के महापुरुष हैं। ऋग्वेद (10/27/16) के ऋषि कहते हैं, ''दस में एक कपिल श्रेष्ठ हैं—दशानामेकं कपिलं समानम्।'' समान के अर्थ सदृश और श्रेष्ठ होते हैं। इसके भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं, एकं मुख्यं कपिलं एतन्नमानं तं प्रसिद्धमृषिम्।''

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का लेखक कहता है—''प्रथम पैदा हुए महर्षि कपिल को जिसने ज्ञान से भर दिया उस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए।''[2] गीताकार ने महाराज श्रीकृष्ण के मुख से कहलवाया है ''मैं सिद्धों में कपिल हूं।''[3] कौटिल्य (300 ईसा पूर्व) ने सांख्य, योग तथा लोकायत को आन्वीक्षकी[4] (जांच-परख) विद्या कही है जिसमें सांख्य का प्रथम स्थान है, जो महर्षि कपिल का दर्शन है।

भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—''हे राजन, नरेश्वर! महात्माओं में, वेदों में, दर्शनों में, योगशास्त्र और पुराणों में जो अनेक उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्य से आया है। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े इतिहासों में, पवित्रात्माओं से

---

1. **कैलकटा रिव्यू 1924, पृष्ठ 21, सर राधाकृष्णन् : भारतीयदर्शन 2/247।**
2. **ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्। 5/2।**
3. **सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ गीता 10/26॥**
4. **कौटलीय अर्थशास्त्रम् 1/1/6।**

सेवित अर्थशास्त्रों में, यहां तक कि संसार में जो कुछ महान ज्ञान देखा जाता है, सब सांख्य से आया हुआ है। सांख्य का ज्ञान अत्यंत विशाल है, बहुत पुराना है, महासागर के समान अगाध है, निर्मल, उदार भावों से भरा तथा ज्योतित है। हे राजन! इस अद्वितीय संपूर्ण सांख्यज्ञान को नारायण धारण करते हैं।''[1] श्रीमद्भागवत में कहा गया है—''यह संसार-समुद्र मृत्यु-पथ है। इससे पार जाना कठिन है। परंतु महर्षि कपिल ने उससे तरने के लिए सांख्यदर्शन एक मजबूत नाव बना दी है जिसका आधार लेकर मुमुक्षु सहज ही संसार-सागर से तर सकते हैं। ऐसे उदार तथा महाकारुणिक पुरुष में राग-द्वेष की बुद्धि कैसे हो सकती है।''[2]

इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं—''हे तात! तब मैं उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और अत्यन्त उत्तम आन्वीक्षकी विद्या को ध्यान में रखकर उस पर विचार करने लगा। हे राजन! त्रयी, वार्ता और दण्ड[3] इनसे परे चौथी विद्या आन्वीक्षकी है जो मोक्षप्रद है। सांख्य का पचीसवां तत्त्व चेतन पुरुष है। इससे अधिकृत आन्वीक्षकी विद्या का प्रतिपादन मैंने किया था।''[4]

स्वामी शंकराचार्य जो सांख्य सिद्धांत के आलोचक हैं, उन्हें भी विवश होकर कहना पड़ा—''शुद्ध आत्मतत्त्व का विज्ञान सांख्य कहलाता है।''[5] श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—''सांख्य-योग से ही आत्मतत्त्व का

---

1. ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥ 108॥
यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टं।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥ 109॥
साख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकान्तम्।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम्॥ 114॥
(महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 301)
2. यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।
भवार्णं मृत्युपथं विपश्चितः परात्मभूतस्य कथं पृथंमतिः॥ श्रीमद्भागवत, 9/8/14॥
3. वैदिक कर्मकाण्ड 'त्रयी' है; खेती, गोपालन तथा व्यापार 'वार्ता' है और राजनीति एवं शासन 'दण्ड' है। इन तीन विद्याओं के परे चौथी आन्वीक्षकी विद्या है जो सांख्य, योग और लोकायत है। परन्तु यहां आन्वीक्षकीम् से मुख्य अर्थ सांख्य है। उसमें अन्य दो आ जाते हैं।
4. तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव।
मन्थामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षकीं पराम्॥
चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैसा साम्परायिकी।
उदीरिता मया तुभ्यं पंचविशादधिष्ठिता॥ शांतिपर्व 318/34-35॥
5. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्याभिधीयते।
(विष्णु सहस्त्रनाम की टीका, सर राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 2/247)

बोध हो सकता है।''[1] महर्षि कपिल के सांख्य-विचार को श्वेताश्वतर के ऋषि प्रस्तुत करते हैं—''त्रिगुणात्मक प्रकृति नित्य है। वह अनेक प्रकार से सृष्टि करती है और दूसरे नित्य चेतन पुरुष हैं जो प्रकृति-प्रदत्त भोगों को भोगते हैं और उन्हें त्यागकर मुक्त भी हो जाते हैं।''[2]

आदि शंकराचार्य यह मानते हैं कि सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल उस कपिल से पृथक हैं जिसने गंगासागर के तट पर सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया था। यह मानना उचित भी है और यही सत्य है। महर्षि कपिल परम कारुणिक एवं कृतार्थ आत्मा पुरुष थे। उनके मन में अहंकार, कामना ही नहीं थे, तो उन्हें ऐसा क्रोध कैसे आ सकता है कि वे जरा-सी ठोकर लगने पर हजारों की हत्या कर दें।

सिद्धार्थ गौतम जब गृह त्यागकर आत्मानुसंधान में निकले थे, तब उन्होंने आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्र, इन ऋषियों के पास में रहकर सत्संग किया था और योगाभ्यास सीखा था। ये दोनों ऋषि कपिल की सांख्य-परम्परा के महापुरुष थे। इसीलिए महात्मा बुद्ध के चिंतन एवं सिद्धान्त पर महर्षि कपिल के सांख्य दर्शन की गहरी छाप है। बुद्ध जिसमें पैदा हुए थे उस शाक्यवंश की राजधानी कपिलवस्तु थी। यह क्षेत्र शायद महर्षि कपिल के विचारों से प्रभावित था। जैन दर्शन भी सांख्य से प्रभावित है। या कहना चाहिए कि दोनों के बहुत-से विचार सांख्य के समान हैं। पुराणों में जहां भी सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम बताया जाता है प्रायः सब सांख्य-दर्शन से प्रभावित होता है।

2. श्रीमद्भागवत में महर्षि कपिल

श्रीमद्भागवत पुराण अवतारवादी है। उसने महर्षि कपिल को पांचवां अवतार माना है और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु उस कुहासे में से भी उनका विवेकपूर्ण देदीप्यमान स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। कहा गया—''पांचवें अवतार सिद्धों में सिरमुकुट महर्षि कपिल हैं। तत्त्वों का निर्णय करने वाला सांख्य दर्शन समय के चक्र में तिरोहित हो गया था। उन्होंने उसका उपदेश आसुरि नामक शिष्य को दिया।''[3]

भागवत के अनुसार 'कर्दम' नाम के पिता तथा 'देवहूती' नाम की माता से महर्षि कपिल पैदा हुए।[4] कुछ दिनों में ही उनके ज्ञान-वैराग्यादि से उनके पिता इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको पूज्य एवं गुरु रूप मान लिया। कर्दम ने

---

1. **सांख्ययोगाधिगम्यम् 6/13।**
2. **श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/5।**
3. **पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।**
   प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ भागवत 1/3/10॥
4. **भागवत, स्कंध 3, अध्याय 24।**

कहा—''ज्ञान की इच्छा रखने वाले विद्वानों द्वारा आपका पाद-पीठ सदैव वंदनीय है। आप वैराग्य, यश, ज्ञान, बल, श्री आदि से पूर्ण हैं। अत: मैं आपकी शरण हूं।.....स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।''[1] महर्षि कपिल के पिता कर्दम जी तो गृह त्यागकर विरक्त हो गये। अब महर्षि कपिल ने सोचा कि माता देवहूती को भी प्रकृति-पुरुष का विवेक-ज्ञान देना है। वे सोचते हैं—''जो सभी कर्मों का नाश करने वाला है वह एकमात्र अध्यात्मज्ञान है। मैं उसका उपदेश माता को करूंगा, जिससे वे संसार के सारे भय से मुक्त हो जायें।''[2]

एक दिन महर्षि कपिल जी अपने आसन पर बैठे थे। माता देवहूती ने पास आकर उनसे कहा—मैं इन दुष्ट इन्द्रियों की विषय-इच्छाओं से ऊब गयी हूं। मैं मन-इन्द्रियों की लालसाओं को जितनी पूर्ण करती रही उतना ही घोर अज्ञान-अन्धकार में पड़ी रही। आपके ज्ञान से निश्चित है मेरा संसार-चक्र समाप्त होगा। देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों में जो मेरी अहंता-ममता हो गयी है, उसे आप अपने ज्ञानोपदेश से दूर करने की कृपा करें। ''मैं आपका नमस्कार करती हूं, और आप शरणरक्षक की शरण लेती हूं। आपका ज्ञान अपने शिष्यों के संसार-वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। मुझे प्रकृति और पुरुष का विवेक-ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है। आप सत्य धर्म के जाननेवालों में श्रेष्ठ हैं। मुझे बोध दीजिए।''[3]

माता देवहूती के उक्त जिज्ञासामय एवं मुमुक्षापूर्ण वचन सुनकर महर्षि कपिल ने कहा—''हे माता! यह मेरा पूर्ण निश्चय है कि आत्मज्ञान ही मनुष्य को संसार के दुख-सुखों के द्वन्द्व से पार लगाकर मोक्ष देनेवाला है। मन की विषयासक्ति बन्धन तथा वैराग्यभाव मोक्ष का कारण है। जब मन सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति लगी हुई अहंता-ममता को छोड़कर समभाव में स्थित हो जाता है तब वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह भक्ति, ज्ञान और वैराग्ययुत होकर उस समय अपनी आत्मा को जड़ प्रकृति से परे, श्रेष्ठ, केवल, एकरस, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड और उदासीन समझकर स्थित हो जाता है, अतएव प्रकृति उसके सामने शक्तिहीन हो जाती है। ''विवेकवान महात्मा लोग आसक्ति को ही आत्मा का मजबूत बन्धन मानते हैं और यही आसक्ति जब संत पुरुषों के प्रति हो जाती है तब वह मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है।''[4]

---

1. **भागवत 3/24/32-33।**
2. **मात्र आध्यात्मकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणां।**
   वितरिष्ये यया चासौ मयं चातितरिष्यति॥ भागवत 3/24/40॥
3. **तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।**
   जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरुषस्य नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्॥ भागवत 3/25/11॥
4. **प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।**
   स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ भागवत 3/25/20॥

''हे माता! जो तितिक्षु, कारुणिक, सब देहधारियों पर दया करने वाला सब का मित्र है, जो किसी को शत्रु नहीं मानता, शांत रहता एवं संतों का आदर करता है, जो सब तरफ से अनासक्त है, ऐसे संतों की संगत करना चाहिए। ऐसे संत सारे विकारों को हरने वाले हैं।''[1]

''हे माता! जब साधक तीव्र विवेक-ज्ञान, वैराग्य, तप और योग द्वारा समाधि में लीन होता है, तब चेतन पुरुष की जड़ प्रकृति के प्रति लगी हुई आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर अपने स्वरूप में स्थित हुए चेतन पुरुष की यह प्रकृति कुछ नहीं कर पाती। जैसे सपने से जगे हुए मनुष्य को सपने के हानि-लाभ व्यर्थ हो जाते हैं, वैसे प्रकृति-पुरुष का भिन्न विवेक हो जाने पर पुरुष सदैव अपने स्वरूप में लीन रहता है। अतएव उसके लिए प्रकृति के सारे खेल सारहीन हो जाते हैं। ऐसे साधक को लोक-परलोक के सारे भोग तुच्छ दिखते हैं।''[2]

कहा जाता है कि महर्षि कपिल ने जब माता देवहूती को प्रकृति-पुरुष-विवेक का उपदेश दिया, तब यह तो अपना ही पुत्र है यह मानकर उन्हें उपदेश में श्रद्धा नहीं हुई। यह भाव महर्षि ने समझ लिया। अतएव वे माता से आज्ञा लेकर कुछ दिनों के लिए भ्रमण में निकल गये। जब महर्षि वर्षों बाद घर पर आये, तो देवहूती ने किसी संत का आगमन समझकर उनका आदर किया, आसन और जल-भोजन दिया। इसके बाद उन्होंने महात्मा से अपने कल्याण के लिए जिज्ञासा प्रकट की। महात्मा ने उन्हें प्रकृति-पुरुष के विवेक का उपदेश दिया। माता को महात्मा के उपदेश से बोध हो गया, और वे देहाभिमान को छोड़कर निज स्वरूप में स्थित हो गयीं।

एक दिन महात्मा ने कहा—माता जी, मैं आपका पुत्र कपिल हूं। माता ने कहा—गुरुदेव, आप ऐसा न कहें। अब माता तथा पुत्र का भाव जाता रहा। आपके उपदेश से मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ, इसलिए आप मेरे गुरुदेव हैं।

इस प्रकार महर्षि कपिल के ज्ञानोपदेश से उनके पिता कर्दम जी संन्यासी हो गये थे, उनकी माता देवहूती भी स्वरूपज्ञान को पाकर कृतार्थ हो गयीं और स्वयं महर्षि तो कृतार्थ स्वरूप थे ही।

3. सांख्य-परम्परा और सांख्य कारिका

महर्षि कपिल के बाद सांख्य-परम्परा में आसुरि, पंचशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण—ये महान चिंतक हुए हैं। महर्षि कपिल-प्रवर्तित

---

1. **भागवत 3/25/21, 22, 24।**
2. **भागवत 3/27/22-27।**

सांख्य-दर्शन का महान ग्रन्थ षष्टितन्त्र था। वह समय के फेर में लुप्त हो चुका है। उसके आधार पर ही श्री ईश्वरकृष्ण का लिखा 'सांख्य कारिका' नाम का ग्रन्थ है; जो आज दो हजार वर्ष से सांख्य-दर्शन का मानक शास्त्र है। श्री ईश्वरकृष्ण ईसा से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व हुए हैं। उनका लिखा 'सांख्य कारिका' ग्रन्थ कुल बहत्तर (72) कारिकाओं (श्लोकों) में है, जिनमें अन्त के चार श्लोक तो सांख्य-परम्परा तथा प्रस्तुत ग्रंथ के परिचय में कहे गये हैं, शेष पहले के अड़सठ (68) श्लोक सांख्य-दर्शन का सम्यक स्वरूप निरूपित करते हैं। श्री ईश्वरकृष्ण ने अन्त के चार श्लोकों में कहा है—"यह पुरुषार्थ (मोक्ष) ज्ञान गोपनीय है। परम ऋषि कपिल ने इसका उपदेश किया है। इसकी प्राप्ति के लिए उसमें तत्त्वों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का विचार किया गया है। महर्षि कपिल ने इस पवित्र ज्ञान को पहले कृपाकर आसुरि को दिया और आसुरि ने पंचशिख को दिया तथा उन्होंने इसका खूब प्रसार और प्रचार किया। इस प्रकार शिष्य-परंपरा से यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को मिला और उन्होंने उसे अच्छी तरह समझकर संक्षिप्त रूप में सत्तर कारिकाओं में रचकर प्रकट किया। यह जो सत्तर कारिकाओं में सिद्धांत निरूपित है वह निश्चित ही 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्रग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें केवल उसकी कहानियां तथा परमत-खंडन नहीं है।"[1]

इस अन्तिम वाक्य से लगता है कि 'षष्टितन्त्र' ग्रंथ विशालकाय था। उसमें सांख्य दर्शन को समझाने के लिए आख्यायिकाएं अर्थात कहानियां लिखी गयी थीं और उस ग्रंथ में परमतों का खंडन भी था।

जैसे मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शनों के सूत्र-ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, वैसे सांख्य-दर्शन का भी सूत्र-ग्रंथ उपलब्ध है, परन्तु वह महर्षि कपिल का नहीं है। वह अपेक्षया बहुत अर्वाचीन है। उसे न श्री ईश्वरकृष्ण जानते हैं, न स्वामी शंकराचार्य और न सर्वदर्शन संग्रह के लेखक माध्वाचार्य जानते हैं। इसलिए सांख्य-दर्शन के तत्त्व-निर्णय का प्रामाणिक ग्रंथ श्री ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्य-कारिका' ही है।

4. महर्षि कपिल का मुख्य सिद्धान्त

महर्षि कपिल सृष्टि, जीवों के कर्म-फल भोग एवं उनके मोक्ष में—कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। वे कहते हैं कि जड़-प्रकृति और चेतन-पुरुष के गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था चलती रहती है। मनुष्य का मुख्य पुरुषार्थ एवं लक्ष्य है दुखों से सर्वथा निवृत्ति। वे कहते हैं कि लौकिक भोगों से दुख दूर नहीं होता, बल्कि और बढ़ जाता है। यदि वैदिक कर्मकांड करे तो

---

1. **सांख्य कारिका, 69-72।**

इससे भी दुख नहीं दूर होता; क्योंकि उसमें तीन दोष महान हैं—अशुद्धि, क्षय तथा सातिशयता (विषमता)। वैदिक यज्ञों में पशुवध होने से उनमें अशुद्धि है, वैदिक कर्म-फल स्वर्गादि नाशवान हैं तथा स्वर्ग-सुख विषमता-पूर्ण है। जिसके अधिक शुभकर्म हैं वहां उसकी स्थिति उच्च ऐश्वर्यपूर्ण और जिसके अपेक्षया कम शुभकर्म हैं उसकी स्थिति निम्न है। अतएव वहां भी मन का संताप बना रहता है। अतएव लोक और वेद, दोनों सुख के रास्ते नहीं हैं। इनके विपरीत दुखों से पूर्ण छुटकारा का रास्ता है व्यक्त = (जगत), अव्यक्त = (प्रकृति), ज्ञ = (चेतन पुरुष) का विवेक। अर्थात चेतन पुरुष जब अव्यक्त जड़ प्रकृति तथा व्यक्त जड़ जगत से अपने ज्ञान स्वरूप को पृथक समझकर अपने आप में स्थित हो जाता है तब वह सारे दुखों से मुक्त हो जाता है।[1]

जब इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास हो जाता है, तब यह निश्चय हो जाता है कि मैं न क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। इस स्थिति में कोई भ्रम शेष नहीं रहता। यहां देहाभिमान रूपी उलटी बुद्धि के नष्ट हो जाने से विशुद्ध केवल एवं असंगत्व ज्ञान का उदय होता है।[2]

5. उपसंहार

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी ने सांख्य पर विस्तारपूर्वक निर्णय देने के बाद लिखा है—"जब शांतिपर्व (290/103-104; 301/108-109, चित्रशाला प्रेस संस्करण) यह उद्घोष करता है कि वेदों, सांख्य, योग, विभिन्न पुराणों, विशद इतिहासों, अर्थशास्त्र में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है तथा इस विश्व में जो कुछ ज्ञान है यह सांख्य से निष्पन्न है, तो यह केवल दर्पोक्ति मात्र नहीं है।"[3]

महर्षि कपिल महान तत्त्वदर्शी एवं निर्भय संतपुरुष वैदिक काल में हुए थे। यह एक आनंदपूर्ण आश्चर्य का विषय है। उनके सांख्य का निर्मल ज्ञान होते हुए भी पीछे की भारतीय-परम्परा के लोग कहां-कहां भटकते रहे और अपने सिर कहां-कहां पटकते रहे। लोक और वेद की परवाह छोड़कर आत्मज्ञान के ऐसे प्रांजल-पथ के प्रदर्शक महर्षि कपिल को शत-शत नमन!।

---

1. **दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**
   तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ सांख्यकारिका, 44॥
2. **एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।**
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका, 64॥
3. **धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड 5, पृष्ठ 245।**

4

महाराज श्रीराम

श्रीराम समुद्र के समान गम्भीर, पर्वत के समान धैर्यवान, विष्णु के समान बलवान, चंद्रमा के समान प्रियदर्शन, कालाग्नि के समान क्रोधवान, पृथ्वी के समान क्षमावान, कुबेर के समान त्यागी, स्वस्थ, सुन्दर, विद्वान, नीतिनिपुण तथा सर्वगुण सम्पन्न हैं। (वाल्मीकि : बालकांड, सर्ग 1)

1. श्रीराम चारों भाइयों का जन्म तथा विवाह

'श्रीराम' शब्द मन में आते ही एक सुन्दर तथा सौम्य मूर्ति खड़ी हो जाती है जिसने भारत के ही नहीं, भारतेतर लोगों के दिल को भी जीत लिया है। इतिहास की पकड़ में न आने वाले अतीतकाल में अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय-कुल में राजा दशरथ की पटरानी कौसल्या से श्रीराम का जन्म हुआ। उनकी दूसरी रानी कैकेयी से भरत तथा तीसरी रानी सुमित्रा से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न पैदा हुए।

राजा दशरथ द्वारा रानियों से कोई संतान नहीं हुई थी। अत: राजा ने जीवन के उत्तरार्ध में ऋष्यशृंग से यज्ञ करवाया। यज्ञ से प्राप्त हविष्य (खीर) रानियों ने खाया और उन्हें गर्भ रह गया। फिर रानियों ने राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न को जन्म दिया। खीर खाने से गर्भ का रहना एक चमत्कारी प्रसंग है।[1]

अयोध्या से पूर्वोत्तर दिशा में सैकड़ों किलोमीटर पर मिथिला देश है। वहां के राजा सीरध्वज जनक ने खेत में पड़ी हुई एक नवजात कन्या पायी थी।[2] उन्होंने उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम सीता रखा। युवती होने पर

---

1. **राम-सीता-विवाह-काल में सखियों ने राम से विनोद में कहा—**
   अति उदार करतूतिदार सब, अवधपुरी की बामा।
   खीर खाय पैदा सुत करतीं, पतिकर कछु नहिं कामा॥
   सखी वचन सुन कर रघुनन्दन, बोले मृदु मुस्काते।
   आपन चाल छिपावहु प्यारी, कहहु आन की बातें॥
   कोइ नहिं जनमें मात-पिता बिनु, बांधी वेद की नीती।
   तुम्हरे तो सब महि से उपजे, अस हमरे नहिं रीती॥
2. **वाल्मीकि, 1/66/13-14; 2/118/28-31 तथा 5/16/16।**

इसी कन्या से श्रीराम का विवाह हुआ। जनक की एक औरस पुत्री उर्मिला थी उसके साथ लक्ष्मण का विवाह हुआ तथा जनक के भाई कुशध्वज की दो पुत्रियां मांडवी तथा श्रुतिकीर्ति क्रमश: भरत और शत्रुघ्न को व्याह दी गयीं।

चारों भाइयों के विवाह के बाद भरत अपने मामा केकय-नरेश के बुलावा से उनके यहां पहुनई करने चले गये। उनके साथ शत्रुघ्न भी गये। केकय-देश आज के व्यास तथा सतलज-नदी के मध्य का भू-भाग है।

2. राम को राजतिलक देने की बात

राजा दशरथ का अन्तिम विवाह केकय-नरेश की पुत्री कैकेयी से हुआ था। दशरथ कैकेयी के सौंदर्य में विमोहित थे; इसलिए केकय-नरेश की इस शर्त को उन्होंने स्वीकार किया था कि कैकेयी से पैदा हुए पुत्र को ही अयोध्या की राजगद्दी दी जायेगी।[1] यह बात दशरथ के मन में थी। इसलिए राजा दशरथ ने राम को उस समय गद्दी देनी चाही जब कैकेयी-कुमार भरत अपने ननिहाल में थे।[2] ऐसी मन:स्थिति में दशरथ द्वारा भरत को बुलाने की बात ही नहीं उठती। गुरु वसिष्ठ, श्रीराम तथा अन्य किसी ने भी भरत को बुलाने के प्रयास में सुझाव तक नहीं दिया। कल राम की राजगद्दी होगी यह बात कौसल्यादि तथा नगरवासी जानते हैं, परन्तु दशरथ की प्रिय रानी कैकेयी नहीं जानती। मन्थरा ने कौसल्या के घर की गहमागहमी से जाना और इसका सन्देश उसने कैकेयी को दिया।

कैकेयी की महानता थी कि वह चेरी मन्थरा द्वारा राम का राजतिलक होने की बात सुनकर प्रसन्न हुई और उसने कहा कि मैं राम और भरत में भेद नहीं मानती। यदि राम का राजतिलक सचमुच होने वाला है तो इस सन्देश के लिए मैं तुम्हें पुरस्कार दूंगी, और उसने अपना एक आभूषण मन्थरा को तत्काल दे डाला। ध्यान देने योग्य है कि कैकेयी को कवियों ने ज्यादा बदनाम करने की चेष्टा की है, परन्तु कैकेयी काफी शुद्ध है, प्रत्युत राजा दशरथ का मन षड्यंत्र से भरा है और इसका कोई विरोध न करके सब दोषों के घेरे में आ जाते हैं, क्योंकि शर्त कैकेयी-पुत्र की राजगद्दी की थी।

मन्थरा कैकेयी की उदारता से खुश न हुई अपितु भड़क उठी और कैकेयी को सुझाया कि यदि राम का राज्य होगा तो आगे उनकी ही वंश-परम्परा राजगद्दी का अधिकारी होगी। राजा राम, भरत को निकाल देंगे या उनका वध करवा देंगे।[3] तुम सब उपेक्षित कर दिये जाओगे, इत्यादि।

---

1. **वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 107, श्लोक 3।**
2. **वाल्मीकि, 2/4/25-27।**
3. **वाल्मीकीय रामायण, 2/8/27।**

मन्थरा ने कहा ''तुमने शंबरासुर के युद्ध में राजा दशरथ की रक्षा की थी। इसके पुरस्कार में राजा ने तुम्हें दो वर देने की बात कही थी। तुमने उन्हें रख छोड़ा था। आज उस वर को राजा से मांग लो। एक में राम का चौदह वर्ष के लिए वनवास तथा दूसरे में भरत का राजतिलक।''

3. कैकेयी-कोप

उपर्युक्त सुझाव से कैकेयी प्रसन्न हो गयी और मैले वस्त्र पहनकर कोपभवन में जा लेटी। दशरथ के आने पर उसने इन्हीं दोनों वरों को मांगा। दशरथ इन बातों से बहुत पीड़ित हुए। राम जब राजा के पास सुबह बुलाये गये तब राजा तो शोक-विह्वल होने से कुछ न कह सके, अपितु, कैकेयी ने ही राम को चुनौतीपूर्वक बताया कि तुम्हारे मोह में राजा कहीं सत्य ही न छोड़ दें। तुम्हें चौदह वर्ष के लिए वन जाना चाहिए। राम कैकेयी की उक्त कठोर बातें सुनकर शोकित नहीं हुए, किन्तु वन जाने के लिए तैयार हो गये और माता कौसल्या से आज्ञा लेने के लिए उनके भवन में गये।

लक्ष्मण ने राम को राय दी कि आप राजगद्दी पर बैठें। पिता को कारावास में डाल देना चाहिए या मार डालना चाहिए।[1] राम ने कहा कि यह गलत बात है। पिता हमारे पूज्य हैं। हम उनके लिए यह सोच भी नहीं सकते। हम शीघ्र वन को चलेंगे। वे पुनः दशरथ से आज्ञा लेकर तथा मुनिवेष धारणकर वन को चले गये। साथ में सीता भी वन को चल पड़ीं और लक्ष्मण ने भी मुनिवेष धारणकर राम का अनुसरण किया।

4. राम का वनवास

श्रीराम लक्ष्मण तथा सीता सहित चित्रकूट के वन में जाकर निवास किये। इधर राजा दशरथ ने पुत्रशोक में अपने प्राण त्याग दिये। भरत तथा शत्रुघ्न बुलाये गये। भरत ने राजगद्दी पर बैठने के कैकेयी के प्रस्ताव को कठोरता से अस्वीकार दिया। उन्होंने दशरथ के शव का दाह करने के बाद राम को वन से मनाकर अयोध्या लौटा लाने की घोषणा की।

भरत दलबल सहित राम को मनाने के लिए चित्रकूट गये, परन्तु राम ने भरत को समझाकर अयोध्या लौटा दिया और कहा कि चौदह वर्ष वन में रहकर मैं अयोध्या लौटूंगा। भरत ने राम की चरणपादुका लाकर अयोध्या की राजगद्दी पर आसीन कर दी, और स्वयं तपस्वी-सेवक बनकर राजकाज देखते रहे।

---

1. **वाल्मीकि, 2/21/12।**

इधर श्रीराम चित्रकूट छोड़ भारत के दक्षिणी वन की ओर चल पड़े। वे रास्ते में अत्रि, सरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषियों के आश्रमों में जाकर उनके दर्शन किये। इसके बाद जटायु से मिलकर दण्डकारण्य की पंचवटी में उन्होंने रहने का आश्रम बनाया और यहीं पर वे रहने लगे।

दण्डकारण्य (जनस्थान) तथा समस्त दक्षिणी भारत राक्षस जातीय लोगों के अधिकार में था। वन में आर्य तपस्वी भी रहते थे। उन्हें राक्षस लोग परेशान करते थे और उनकी हत्या भी कर देते थे। ऋषियों ने अपने दुख राम से सुनाये। राम ने ऋषियों के सामने प्रतिज्ञा की कि मैं राक्षसों को मारूंगा।[1]

5. सीता जी का श्रीराम को उत्तम सुझाव

सीता जी ने राम को समझाया—"आप महान हैं। परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि आप अधर्म कर रहे हैं। काम से पैदा हुए तीन दोष होते हैं—व्यभिचार, मिथ्याभाषण तथा हिंसा। आप व्यभिचार तथा मिथ्याभाषण से तो दूर हैं, परन्तु निरपराध प्राणियों की हत्या करते रहते हैं। आपने ऋषियों की रक्षा में राक्षसों को मारने के लिए प्रतिज्ञा की है, इसलिए धनुष-बाण लेकर दण्डकारण्य में चलते हैं। मैं आपको इस घोर कर्म हिंसावृत्ति में लगा देखकर चिंता में डूबी रहती हूं कि आपका कल्याण कैसे होगा।[2] आपका दण्डकारण्य की तरफ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। आप दोनों भाई बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर चल रहे हैं। हो सकता है कि वनवासियों को देखकर आप उन पर बाणों का प्रहार करने लगें। जैसे आग से लगा ईंधन जलने लगता है, वैसे ज्यादा अस्त्र-शस्त्र बांधने से मन में हिंसा की वृत्ति जगती है। पुरानी कथा है कि इंद्र ने एक ऋषि को थाती रूप में रखने के लिए एक तलवार दे दी थी। ऋषि उस तलवार की रक्षा के लिए उसे सदैव अपने हाथों में लिये रहने लगे। धीरे-धीरे उनके मन में तलवार चलाने की वासना जग गयी और वे क्रूर-कर्मी हो गये।

"मेरे मन में आपके लिए प्रेम है, इसलिए मैं आपको यह राय दे रही हूं। आप बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर दण्डकारण्य न चलें। आपको बिना अपराध दण्डकारण्यवासियों का वध नहीं करना चाहिए। इसे कोई भला मानुष अच्छा नहीं मानेगा। क्षत्रियों को तो केवल इसलिए अस्त्र-शस्त्र रखना चाहिए कि समय आने पर वे प्राणियों की रक्षा कर सकें। कहां शस्त्र-धारण, कहां

---

1. **राक्षस का अर्थ यह नहीं है कि वे कोई भयंकर जीव थे। वस्तुतः वे भी सुसभ्य मनुष्य थे। वे विद्वान तथा तपस्वी भी होते थे। कुछ आर्य-ऋषि लोग शायद उनके क्षेत्र में राजनीतिबाजी करते थे। इसका पता चलने पर वे राक्षसों द्वारा मारे जाते थे। शेष साधना-परायण ऋषि-मुनि नहीं मारे जाते थे। इसीलिए वे राम से वार्ता करने के लिए जीवित थे।**
2. **वाल्मीकि, 3/9/12।**

वनवास, कहां हिंसामय क्षात्रकर्म तथा कहां तप? ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं। इसलिए आप लोगों को देश-धर्म पालन करना चाहिए। आप तपोवन रूप देश में निवास करते हैं, अत: तपस्वी बनकर रहें। तपस्वी हिंसा नहीं करता।''[1]

''केवल हथियार बांधने वाले का मन कृपण मनुष्यों की तरह क्रूर हो जाता है। आप जब अयोध्या चलेंगे तब ज्यादा हथियार बांधियेगा। आप मुनिव्रत में हैं, अत: अहिंसाव्रत में रहेंगे तो इससे सासु-ससुर को प्रसन्नता ही होगी। मैंने अपनी चपलता से यह सब कह डाला। मैं आपको उपदेश देने में समर्थ नहीं हूं। आप अपने छोटे भाई से विचार कर लें, फिर जो अच्छा लगे वह करें।''

राम ने कहा कि तुम अपने विचार से ठीक कहती हो, परन्तु मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूं, तुम्हें तथा लक्ष्मण को भी छोड़ सकता हूं, किन्तु इस प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकता कि मैं राक्षस-जाति का वध करूंगा।[2]

6. शूर्पणखा-विरूपण तथा खर-दूषणादि को मारना

पंचवटी में रहते-रहते एक दिन रावण की बहिन शूर्पणखा आ गयी और वह राम को देखकर मोहित हो गयी। उसने राम से पूछा—तुम यहां राक्षसों के क्षेत्र में कैसे घुस आये हो?

राम ने सरलतापूर्वक अपने आने के कारण बताये। फिर शूर्पणखा ने अपने मन की बात कही कि मैं तुम्हें अपने पति के रूप में पाना चाहती हूं। राम ने कहा—मेरी पत्नी तो देखो, सीता पास में बैठी है। मेरे छोटे भाई लक्ष्मण अविवाहित हैं, उनके पास जाओ। राम का यह मजाक वह न समझ सकी और लक्ष्मण से उसने अपना प्रस्ताव रखा। लक्ष्मण ने स्वयं को राम का दास बताया और कहा कि राम के पास जाओ, वे समर्थ हैं। इस धकापेल में वह कुपित हो गयी। राम ने लक्ष्मण द्वारा उसके नाक-कान कटवा लिए।

शूर्पणखा ने जनस्थान में रहने वाले रावण के सरदार खर, दूषण, त्रिशरा आदि से यह घटना बतायी। वे सब राम से लड़ने आये और मारे गये। शूर्पणखा ने लंका में जाकर रावण को यह सब बताया, और सीता की सुन्दरता का वर्णन किया। रावण ने मारीच को स्वर्णमय मृग बनकर राम तथा सीता को भ्रम में डालने की राय दी जिससे वह सीता का हरण सरलता से कर सके।

7. सीताहरण

बहुरुपिये भी स्वांग बनाकर वानर-भालू आदि का रूप बना लेते हैं। इसी तरह मारीच स्वर्णमय मृग का स्वांग बनाकर पंचवटी में राम के आश्रम पर

---

1. **क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तप: क्व च। व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥ वा० 3/9/27॥**
2. **वा० 3/10/18-19।**

गया। सीता उसे देखकर मोहित हो गयीं और उन्होंने राम से उसे जीवित या मारकर लाने का आग्रह किया। लक्ष्मण ने राम को रोका कि सोने का मृग कहीं नहीं होता। यह राक्षसों का छलावा हो सकता है और इसके पीछे हमारे ऊपर संकट आ सकता है। इसलिए इसके पीछे नहीं पड़ना चाहिए। परन्तु राम-जैसे विवेकी पुरुष भी उस पर विमोहित हो गये और उसके पीछे धन्वा-बाण लेकर दौड़ पड़े। महाभारतकार ने ठीक ही कहा है—"किसी प्राणी का शरीर स्वर्ण का नहीं होता, परन्तु राम उस स्वर्णमय दिखते हुए मृग में विमोहित हो गये। सच है, जब किसी के पतन का समय आता है तब उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है।"[1]

जब मारीच राम को दूर तक ले गया और राम के बाण से आहत होकर गिरा तब उसने हा लक्ष्मण, कहा। सीता ने आश्रम में यह शब्द सुनकर लक्ष्मण को राम के पास जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने समझा कि राम के ऊपर विपत्ति आ गयी। लक्ष्मण ने उन्हें समझाया कि राम के ऊपर विपत्ति नहीं आ सकती। मुझे उन्होंने आपकी रक्षा के लिए यहां दायित्व दिया है। अत: मैं आपकी रक्षा में रहूंगा।

उक्त बातें सुनकर सीता लक्ष्मण पर क्रुद्ध हो गयीं और उन्होंने उन पर अनेक भयंकर संदेह करके बड़े तीखे वचन कहे। लक्ष्मण इन कठोर वचनों के कारण राम के पास गये। उधर राम मृग को लाद-फांद कर आ रहे थे। इधर रावण आश्रम पुरुषों से सूना देखकर सीता को लंका उठा ले गया।

राम तथा लक्ष्मण जब आश्रम पर आये, तब उसे सूना देखकर बहुत दुखी हुए। राम ने सीता के लिए विलाप किया, फिर दोनों भाई सीता की खोज करते हुए दक्षिण को बढ़े। रास्ते में घायल जटायु मिले, जो गृध-गोत्रिय राजपुरुष थे। उन्होंने सीता को रावण के पंजे से छुड़ाने के लिए युद्ध किया था, परन्तु रावण के बाण से घायल होकर मैदान में पड़े थे। राम ने जटायु की चिकित्सा एवं सेवा की, परन्तु वे बच न सके और देखते-देखते मर गये। मरने के पहले जटायु ने यह बता दिया था कि सीता को रावण ले गया है।

8. रावण पर विजय

श्रीराम लक्ष्मण-सहित तपस्विनी एवं श्रमणी शबरी से मिलते हुए पम्पासरोवर पहुंचते हैं। वहां वानरगोत्रिय राजपुरुष सुग्रीव के मन्त्री हनुमान मिलते हैं। सुग्रीव अपने बड़े भाई द्वारा निष्कासित हैं। हनुमान ने राम और सुग्रीव की एक-जैसी स्थिति देखकर दोनों से मित्रता करायी और दोनों द्वारा

---

1. **असम्भवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलभे मृगाय।**
   प्राय: समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवंति॥ सभापर्व, 76/5॥

दोनों के काम बनाने की प्रतिज्ञा करायी। राम ने सुग्रीव के बड़े भाई वाली को छिपकर मार दिया और सुग्रीव को राजगद्दी पर बैठा दिया। इसके फल में सुग्रीव ने अपनी सेना के सहित स्वयं को राम के कार्य के लिए समर्पित किया। इतने में वर्षा का समय आया। राम ने लक्ष्मण को लेकर प्रस्रवण नाम के पर्वत पर वर्षा-वास किया। वर्षा-वास राम सीता की याद में बहुत बेचैनी में बिताते हैं।

वर्षा बीत जाती है। राम को संदेह होता है कि मैंने सुग्रीव से मित्रता तो की और उसका काम भी कर दिया, परन्तु उसने मेरे काम को भुला दिया है। उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि जाकर सुग्रीव को बता दो कि जिस रास्ते से वाली गया है, वह रास्ता बन्द नहीं हो गया है। वाली को तो अकेले भेजा था, सुग्रीव यदि कृतघ्न हुआ तो उसे परिवार सहित मौत के घाट उतार दूंगा।

लक्ष्मण ने जाकर सुग्रीव को फटकारा, परन्तु सुग्रीव ने बताया कि हम सावधान हैं। सेना को एकत्र होने की आज्ञा दे दी गयी है। सुग्रीव ने सेना द्वारा सीता का पता लगाया कि वे रावण की अशोक-वनिका में लंका में कैद हैं।

उधर रावण के छोटे भाई विभीषण ने रावण को अनेक बार समझाया कि सीता को राम के पास भेज दिया जाये, अन्यथा इसका फल बुरा होगा। रावण विभीषण को टालता रहा कि तुम राम की परवाह मत करो। वे हमारा कुछ नहीं कर सकते। अंततः रावण ने विभीषण को फटकारा कि तुम मेरे भाई होकर मेरे शत्रु की बड़ाई करते हो, तुम्हें धिक्कार है। तुम भाई हो, यदि दूसरा कोई ऐसा कहा होता तो उसका कुशल न होता।

विभीषण दुखी होकर और अपने चार मन्त्रियों के साथ यह कहकर चल दिये कि मैंने तुम्हारे भले के लिए कहा था। अब मैं जा रहा हूं। तुम मेरे बिना सुखी रहो।

विभीषण राम की सेना में आकर मिल गया। यद्यपि अन्य लोगों ने विभीषण पर शंका की, परन्तु राम ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। जब विभीषण राम के पास लाया गया, उसने राम से कहा—मैं मित्र, धन और लंका छोड़कर आया हूं। अब मेरा राज्य, जीवन और सुख सब आपके हाथों में हैं। विभीषण की उक्त बातें सुनकर राम ने अपनी मधुर वाणी से उसे सांत्वना दी और वे इस प्रकार देखने लगे कि मानो आंखों से उसे पी जायेंगे—'लोचनाभ्यां पिबन्निव।' तत्काल राम ने लक्ष्मण को आज्ञा देकर विभीषण का लंका राजगद्दी के लिए राजतिलक करवा दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राम राजनीति में काफी निपुण हैं।

सुग्रीव तथा विभीषण इन दो की सहायता एवं अपने पराक्रम से राम ने रावण से घोर युद्ध किया। राम तथा लक्ष्मण युद्ध में कई बार घायल होते हैं।

युद्ध बड़ा घमासान चलता है। अंतत: रावण अपने सभी वीरों के सहित मारा जाता है और राम की पूर्ण विजय होती है।

9. सीता की अग्निपरीक्षा और रामराज्य

विजय के बाद विभीक्षण द्वारा सीता राम के पास लायी जाती हैं। भरी सभा में राम ने बड़ी कठोरता से सीता को तिरस्कार भरे शब्द कहे हैं,[1] उन पर अविश्वास किया है तथा कहा है कि मैंने शत्रु पर विजय करके तथा तुम्हें उसके कैद से मुक्त करके अपने ऊपर लगे कलंक को धो दिया है, परन्तु मैं तुम्हें अपने पास रख नहीं सकता। तुम चाहे जहां चली जाओ तथा चाहे जिसके पास रहो।

सीता को राम के दुर्वचन से बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने पीड़ित होकर राम से कहा—आपने उसी प्रकार मुझे कठोर वचन कहे हैं जैसे एक निम्न कोटि का पुरुष एक निम्नकोटि की स्त्री को कहे। आप मुझे जैसी समझते हैं, मैं वैसी नहीं हूं। मेरी अनिच्छा से रावण ने मेरा शरीर छुआ है। मेरा मन ही मेरे अधिकर में था और उसमें तो मैंने केवल आपको ही बैठा रखा है। आप और मैं दोनों एक साथ बहुत दिन रहे हैं। एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं। इतने पर भी यदि आपने मुझे नहीं समझा, तो मैं मारी गयी। आपने छिछले मनुष्यों की भांति केवल उत्तेजना का आश्रय लिया और मेरे शील स्वभाव से अपनी आंखें मीच लीं।

अंतत: सीता अपनी अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। सज्जनों ने आकर सीता की तरफदारी की। राम ने सीता को स्वीकार किया और श्रीराम सीता तथा लक्ष्मण-सहित अयोध्या लौट आये। राम की राजगद्दी हुई। राम के राज्य में प्रजा को सर्वत्र सुख-सुविधा थी।

10. सीता निर्वासन

राम को राज्य करते हुए बहुत दिन बीत गये। सीता को बहुत दिनों तक रावण ने अपने कैद में रखा था; राम ने उन्हें कैसे पुन: स्वीकार लिया—इस बात की सुगबुगाहट प्रजा में चल रही थी। भीड़ का समाधान बड़ा मुश्किल होता है। सीता-जैसी पतिव्रता नारी पर भी अयोध्यावासियों ने भयंकर संदेह किया और यह सन्देह जन-चर्चा का विषय बन गया।

राजा राम के मन को प्रसन्न करने के लिए उनके सखा हंसी-विनोद करते तथा उनका मनोरंजन करते थे। ये थे—विजय, मधुमत्र, काश्यप, मंगल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दंतवक्त्र, सुमागध आदि। राम ने इन सबसे पूछ लिया

---

1. **वाल्मीकि, युद्धकांड, 115वां सर्ग।**

कि मेरे, मेरी पत्नी, मेरी माताओं तथा मेरे अनुशासन के लिए प्रजा में कैसी चर्चा चलती है? अच्छी तथा बुरी, जो चर्चा हो, सब बताओ।

मित्रों ने कहा कि आपकी सभी बातों के लिए प्रशंसा होती है। केवल एक बात से आपकी निंदा हो रही है, वह है सीता को पुनः घर में रख लेना। इसको लेकर प्रजा में असंतोष है। लोग कहते हैं कि रावण ने पहले सीता को बलपूर्वक उठा अपनी गोद में लेकर उनका अपहरण किया। पीछे उन्हें लंका ले जाकर अपने अन्तःपुर की अशोक-वनिका में रखा। इस प्रकार सीता बहुत दिनों तक रावण के वश में रहीं। फिर राम उनसे घृणा क्यों नहीं करते? अब हमें भी स्त्रियों की ऐसी गलत बातें सहनी पड़ेंगी। क्योंकि राजा जिस प्रकार रहता है, प्रजा उसी प्रकार होती है।

उक्त बातें सुनकर राम उदास हो गये। उन्होंने मित्रों को विदा कर दिया और अपने भाइयों को बुलाया तथा उनसे कहा कि मैं जो तुम लोगों को आज्ञा देने जा रहा हूं उसे सीधे स्वीकार करो। अयोध्या में सीता के रहने से मुझे बहुत अपमान सहना पड़ रहा है। सीता गर्भवती हैं। इन्होंने एक दिन एवं रात के लिए ऋषियों के आश्रम में घूम-फिर एवं रहकर आने की भी इच्छा प्रकट की थी। अतः सीता से कह दो कि तुम्हें वन में ऋषियों के आश्रम में घुमाने के लिए ले चल रहे हैं, और वहां पहुंचने पर बता देना कि राम की आज्ञा है कि तुम्हें वन में निष्कासित कर दिया जाये। उक्त आज्ञा लक्ष्मण को दी गयी कि सुमन्त के साथ रथ लेकर तथा सीता को उस पर बैठाकर वाल्मीकि-आश्रम के वन में सीता को छोड़ आओ। संभवतः राम के मन में था कि वाल्मीकि के आश्रम के वन में सीता को छोड़ने से उन्हें आश्रम में आश्रय मिल जायेगा।

उक्त बातें भाइयों को अच्छी नहीं लगीं। परन्तु वे मजबूर थे। दूसरे दिन सुमन्त ने रथ हांका और सीता को उस पर बैठाकर लक्ष्मण ले चले। जब वन में रथ रोककर तथा सीता को नौका में बैठाकर गंगा की दूसरी तरफ लक्ष्मण ले गये और सीता के सामानों की गठरी जमीन पर रखकर रोने लगे तब सीता ने उनके रोने का कारण पूछा। लक्ष्मण ने दुखपूर्वक बताया कि आपको राम ने निकाल दिया है। सीता व्याकुल होकर जमीन पर गिर पड़ीं और अचेत हो गयीं।

जगने पर सीता ने कहा—हे लक्ष्मण! विधाता ने मेरा शरीर मानो केवल दुख भोगने के लिए बनाया है। पता नहीं मेरा पूर्वजन्म का कौन-सा पाप है जिसका फल मैं भोग रही हूं। मुझ-जैसी सती-साध्वी को राम ने त्याग दिया। मैंने चौदह वर्ष वन में रहकर राम की सेवा की। दुख को दुख नहीं माना। अब परिवार से अलग मैं कैसे रहूंगी। दुख पड़ने पर किससे कहूंगी। जब ऋषि लोग पूछेंगे कि राजा राम ने तुम्हें किस अपराध से निकाल दिया है, तो मैं क्या

बताऊंगी? मैं अभी गंगा में कूदकर अपने प्राण खो देती, परन्तु मैं गर्भवती होने से ऐसा नहीं करूंगी, अन्यथा राजवंश ही डूब जायेगा।

हे लक्ष्मण! तुम तो वही करो जो महाराज ने कहा है। मुझ दुखिया को तुम छोड़ जाओ। परन्तु मेरी बातें सुनते जाओ—सब सासुओं को नमस्कार कहना, महाराज के सामने मेरी ओर से सिर टेककर कुशल पूछना और बता देना जैसा कि वे स्वयं जानते हैं कि मैं पवित्र हूं। उन्होंने लोक-अपवाद के डर से मुझे त्याग दिया है, तो ठीक है, जिससे उनका अपमान न हो वैसा काम करें। मेरे कारण उनकी निंदा होती थी, तो मेरा भी कर्तव्य है कि जिससे उनकी निंदा न हो ऐसे कार्य में मैं उनकी सहायता करूं। स्त्री के लिए तो पति देवता है। उसे प्राणों की बाजी लगाकर पति का काम करना चाहिए। लक्ष्मण सीता को नमस्कार कर सुमंत के साथ अयोध्या लौट आये।

11. सीता का पृथ्वी में प्रवेश

बहुत दिनों के बाद राम ने नैमिषारण्य में अश्वमेधयज्ञ किया। उसमें वाल्मीकि भी सीता तथा उनके दोनों बच्चे कुशी और लव को लेकर पहुंचे। वहां कुशी और लव ने रामायण का गायन किया। इससे राम को सीता का भी पता लगा कि वे भी वाल्मीकि के साथ आयी हैं। राम ने अपने दूतों द्वारा वाल्मीकि को सन्देश दिया कि वे सीता को लाकर सभा में उपस्थित हों और सीता भरी सभा में अपनी पवित्रता प्रमाणित करें।

सभा खचाखच भरी थी। वाल्मीकि सीता को लेकर सभा में पहुंचे। सीता अपना सिर नीचे किये आंसू बहा रही थीं। राम ने सीता से उनकी शुद्धता का प्रमाण मांगा। सीता ने कहा—"मैं श्रीराम को छोड़कर दूसरे पुरुष का मन से भी नहीं चिंतन करती हूं। यदि यह बात सत्य है तो पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोद में जगह दें। और पृथ्वी फटी तथा पृथ्वी देवी ने सीता को अपनी गोद में समा लिया।"[1]

12. साथियों सहित राम की जलसमाधि

कुछ दिनों के बाद कौसल्यादि माताओं का निधन हो गया। लक्ष्मण ने पहले सरयू में प्रवेशकर जलसमाधि ले ली। इसके बाद राम ने विंध्यपर्वत के पास 'कुशावती' नगर में 'कुश' को तथा अयोध्या से उत्तर 'श्रावस्ती' में 'लव' को राजा बनाया। शत्रुघ्न के पुत्र 'सुबाहु' को 'मधुरा' (मथुरा) तथा 'शत्रुघाती' को 'विदिशा' का राज्य दिया गया। भरत के पुत्र 'तक्ष' को 'तक्षशिला' एवं 'पुष्कल' को 'पुष्कलावती' का राज्य मिला।

---

1. **यह भी एक चमत्कारी प्रसंग है। किसी के कहने से पृथ्वी फट नहीं सकती। यहां का अर्थ यही है कि सीता ने सत्य के लिए अपना बलिदान कर दिया।**

लक्ष्मण के जल समाधि ले लेने के बाद से राम का मन संसार से एकदम उचट गया और उन्होंने कहा कि मैं शीघ्र ही सरयू में प्रवेशकर जल समाधि लूंगा। राम के साथ बहुत-से लोग जलसमाधि लेने के लिए तैयार हुए। अंततः उन्होंने अपने साथियों के सहित सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इहलीला का विसर्जन किया।

13. उपसंहार

महाराज श्रीराम के जीवन में ऐसे सद्‌गुण हैं जो मानव-समाज को हजारों वर्षों से प्रेरणा देते रहे हैं तथा आगे देते रहेंगे। माता-पिता की आज्ञा से चौदह वर्षों का कठोर तपस्वी जीवन बिताना, सत्य वचन में दृढ़ता, भाई के लिए राज्य का त्याग तथा कुशल प्रजा-पालन उनके महान गुण हैं। साथ-साथ रामायण के अन्य पात्रों के उत्तम आदर्श हैं, जैसे सीता जी का पातिव्रत, भरत का त्याग, लक्ष्मण का सेवाव्रत तथा उर्मिला का चौदह वर्ष का तप आदि मानव-मन को प्रकाश देने वाले हैं। रामायण-काव्य बड़ा मनोहारी तथा प्रेरणाप्रद है। सच है—"जब तक इस पृथ्वी पर पर्वतों तथा नदियों का अस्तित्व रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में फैलती रहेगी।"

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ (वाल्मीकि 1/2)

5

महाराज श्रीकृष्ण

महाराज श्रीकृष्ण भारतवर्ष के एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न वैभवशाली व्यक्तित्व का नाम है जिसने हजारों वर्षों से सम्पूर्ण देश को राजनीति, धर्म, दर्शन, योगादि अनेक विधाओं से अत्यन्त प्रभावित किया है। और केवल भारतवर्ष ही नहीं, इस अद्वितीय व्यक्तित्व ने विश्व के दिग-दिगंत में अपनी प्रकाश-रश्मियां फैलायी हैं। श्रीकृष्ण का ऐसा विशाल व्यक्तित्व हुआ कि उस पर हजारों वर्षों से साधारण जनता, पंडित एवं भक्त-समुदाय मोहित होकर क्या-क्या नहीं आरोपित किये। अतिश्रद्धा तथा चमत्कारी वर्णनों के घटाटोप में संसार के सभी महापुरुषों की सत्यता छिप-सी गयी है। महाराज श्रीकृष्ण के प्रति तो भक्तों ने अगम-अपार चमत्कारी प्रसंग जोड़े हैं, इससे भी उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का ही संकेत मिलता है।

1. वंश

रामायण, हरिवंश एवं पुराणों के अनुसार सूर्यवंश से ही चंद्रवंश निकला है जिसे आगे चलकर यादव-वंश कहा गया है। वाल्मीकीय रामायण (7/58) के अनुसार सूर्यवंशी राजा ययाति से उनकी पत्नी एवं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से 'यदु' हुए। हरिवंश (विष्णु पर्व, अध्याय 37) के अनुसार सूर्यवंशी राजा हर्यश्व तथा उनकी पत्नी एवं मधु नामक दैत्य की पुत्री मधुमती से 'यदु' हुए। पुराणों से यह सिद्ध है कि 'हर्यश्व' और 'ययाति' दोनों ही सूर्यवंशी थे। हो सकता है ययाति और हर्यश्व एक ही व्यक्ति रहे हों।

यादव-वंश में 'अंशु' नाम के राजा के पुत्र सत्वत थे और सत्वत के पुत्र सात्वत थे। इनसे सात्वत-वंश प्रसिद्ध हुआ। कूर्म पुराण के अनुसार सात्वत ने देवर्षि नारद से उपदेश पाकर भागवतधर्म चलाया जिसमें नारायण की उपासना थी। इसको सात्वत-धर्म भी कहा गया। आगे चलकर श्रीकृष्ण इसी परम्परा में हुए, और वे ऐसे महान समर्थ पुरुष हुए कि उन्होंने स्वयं नारायण का स्थान ग्रहण कर लिया। श्रीकृष्ण को पाकर यादवों को ऐसा लगा कि मानो नारायण श्रीकृष्ण के रूप में हमारे यहां पैदा हो गये हैं। आगे चलकर श्रीकृष्ण नारायण के अवतार ही नहीं, किन्तु स्वयं परब्रह्म अर्थात अनन्त ब्रह्मांडनायक बन गये।

यादव-वंश में अनेक यशस्वी पुरुष होते गये, और उनके नाम से नये-नये गोत्र बनते गये, जैसे यादव, भैम, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुंति, कुक्कुर, भोज, अंधक, दाशार्ह, वृष्णि आदि। यदु, मधु, वृष्णि आदि प्रतापवान पूर्वजों के कारण श्रीकृष्ण को यादव, माधव तथा वार्ष्णेय कहा जाता था। यादव-वंश में अनेक वंश होने पर भी वर्चस्व केवल दो वंशों का था—वृष्णि और अंधक।

2. जन्म

यदुवंश में एक राजा थे शूरसेन। वे मथुरा पर राज्य करते थे। इनके नाम से उस मंडल का नाम हो गया शूरसेन मंडल। मथुरा की राजगद्दी पर एक यादव राजा उग्रसेन बैठे। उनका पुत्र कंस था जो उन्मादी था। जवान होने पर उसने अपने पिता उग्रसेन को गद्दी से उतारकर कारावास में डाल दिया और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। यह वसुदेव आदि यादवों को बुरा लगा। कंस की चचेरी बहिन देवकी थीं जो वसुदेव से व्याही गयी थीं। कंस को अपनी बहिन तथा वसुदेव पर विरोधी होने की शंका थी। अतः उसने उन्हें भी मथुरा के कारावास में डाल दिया।

इसी कारावास में वसुदेव-देवकी से भादों कृष्ण अष्टमी बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में आधी रात को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। कंस को डर था कि वसुदेव-देवकी से पैदा हुए बच्चे मेरे शत्रु हो सकते हैं। अतः वह उनसे पैदा हुए सभी बच्चों को मरवाता रहता था। जब श्रीकृष्ण का जन्म हुआ तब कुछ ऐसा बानक बना कि वसुदेव ने उस बच्चे को रात-ही-रात गोकुल नामक ग्राम में नन्दबाबा के यहां पहुंचा दिया और लौटकर पुनः कारावास में आ गये। समय-संयोग के बदलाव से कंस ने वसुदेव-देवकी को भी कारावास से मुक्त कर दिया।

3. बाललीला

श्रीकृष्ण पर रीझकर भक्तों ने पीछे से उनकी बाललीला का अतिशयोक्तिपूर्ण विशद वर्णन किया है। इसे हरिवंश तथा विस्तार से भागवत में देख सकते हैं। नवजात शिशु-कृष्ण पूतना का वध करता है, अपने पैरों के प्रहार से बैलगाड़ी को तोड़ देता है। वह बचपन में ही यमलार्जुन पेड़ों को उखाड़ देता है, वत्सासुर, वकासुर, अघासुर, धेनुकासुर आदि दुष्टों का विनाश करता है, कालिया नाग का मर्दन कर ग्वालबालों को उससे बचा लेता है।

बालक-कृष्ण नटखट है। वह अन्य ग्वालबालों को लेकर घर तथा दूसरे ग्वालों के घर में दधि-माखन की चोरी करता है। कृष्ण की माखन-चोरी की भावना को कवियों ने बहुत तूल दिया है। नटखट बच्चों का कुछ दिन ऐसा

करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु पाठकों से निवेदन है कि वे स्वयं समझें कि उनके घर के बच्चे कहीं माखन चुराने नहीं जाते हैं, तब जिन नंदबाबा के घर में हजारों गायें थीं, उनके घर का बच्चा कृष्ण क्या माखन की चोरी करने जायेगा! परन्तु रस लेने और देने के लिए कवि लोग आकाश-पाताल के कुलावे मिला देते हैं।

4. चीरहरण

गोपिकाएं अपने कपड़े उतारकर तट पर रख देती हैं और नंगी होकर यमुना-नदी में स्नान करती हैं। संयोग से वहां बालक-कृष्ण आ जाते हैं। उन्हें गोपियों की यह क्रिया अच्छी नहीं लगी। वे गोपियों के सारे कपड़े लेकर पेड़ पर चढ़ जाते हैं और वहीं से उन्हें पुकारकर कहते हैं कि तुम लोग स्वयं आकर अपने-अपने कपड़े ले जाओ। वर्णन में हंसी-विनोद का पुट दिया गया है। अन्ततः गोपियां पेड़ के नीचे आकर अपने-अपने कपड़े मांगती हैं और श्रीकृष्ण उनको कपड़े देते हुए उन्हें सावधान करते हैं कि अब आज से नंगी होकर कभी स्नान नहीं करना। वे कहते हैं कि हे गोपियो! तुम्हारे सत्यव्रत की मैं प्रशंसा करता हूं, परन्तु तुम लोगों ने नंगी होकर स्नान करने का अपराध किया है। इससे मानो देवस्वरूप सुसभ्य लोगों की तुम लोगों ने अवहेलना की है।

इस घटना में गोपियों के वस्त्रों को लेकर पेड़ पर चढ़ जाने से बालक-कृष्ण की चपलता मानी जा सकती है, परन्तु इसके मूल में उनका उद्देश्य गोपियों को कड़ी शिक्षा देना था जिससे नंगी होकर खुली जगह में कभी स्नान न करें।

5. रास या महारास

रास का अर्थ होता है कोलाहल एवं नाच-गान। धारणा यह है कि जब श्रीकृष्ण दस वर्ष के थे, तब वे गोकुल की गोपिकाओं को लेकर कार्तिक-पूर्णिमा की रात को वृन्दावन के यमुना तट पर चले गये और वहां उन्होंने उनके साथ रातभर नाच-गान किया। देश और काल की अनादि-अनन्त-यात्रा में कब कैसी-कैसी रीति-नीति रही है और आगे कैसी-कैसी रहेगी, कह पाना असम्भव है। और आज के सन्दर्भ में उन बातों को सही या गलत मानकर समीक्षा करना भी व्यर्थ है। आदिवासियों में ऐसे नाच-गान की रीति आज भी है। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के आदिवासियों में आज भी 'घोटुल' नाम के क्लब होते हैं, जिसमें अविवाहित किशोर-किशोरी एवं युवक-युवती रात में इकट्ठे होकर नाच-गान करते हैं।

परन्तु श्रीकृष्ण ने रास किया था इसका पता वेद, वैदिक साहित्य तथा महाभारत में कहीं नहीं है। वेद में केवल एक जगह (ऋग्वेद 8/85/13-16

में)[1] श्रीकृष्ण की चर्चा है जो वासुदेव कृष्ण ही लगते हैं। इस स्थल पर केवल यही वर्णन है कि वे तेज, वीर, देदीप्यमान एवं इन्द्र के विरोधी हैं। वैदिक साहित्य में भी मात्र एक स्थल पर (छांदोग्य उपनिषद् 3/17/6 में) श्रीकृष्ण की चर्चा है जहां उन्हें गुरु घोर आंगिरस ने ज्ञान देकर तृष्णा से पार लगा दिया है। वेद और वैदिक साहित्य के बाद महाभारत का स्थान आता है। यह कौरव-पांडवों की गाथा है। श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी होने से उनकी भी कथा उसमें खूब आयी है, परन्तु पूरे महाभारत में कहीं एक वाक्य में भी नहीं लिखा है कि श्रीकृष्ण ने रास किया था।

महाभारत के सभापर्व के 68वें अध्याय के 41वें श्लोक में, जहां दु:शासन ने द्रौपदी का वस्त्र खींचना शुरू किया है, द्रौपदी ने आर्त होकर श्रीकृष्ण को पुकारा है और यहां पर श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय' कहा है। इस श्लोक में 'गोपीजनप्रिय' शब्द श्रीकृष्ण के लिए आया है। इसका अर्थ होता है कि श्रीकृष्ण गोपियों के प्यारे हैं। एक तो इतने शब्द मात्र से रास का अर्थ नहीं लगाया जा सकता है। दूसरी खास बात है कि महाभारत के समस्त तार्किक अध्येता ''द्रौपदी चीर-हरण'' प्रसंग को प्रक्षिप्त मानते हैं। किसी के द्वारा किसी स्त्री के वस्त्र खींचने पर और उसके पुकारने पर हजार किलोमीटर की दूर पर रहे हुए किसी महापुरुष की कृपा से वस्त्र बढ़ता ही जाये, यह सब असम्भव है। खास बात यह है कि यह प्रसंग बहुत पीछे जोड़ा गया है।

साढ़े आठ हजार श्लोकों में पहले कौरव-पांडव की कथा लिखी गयी थी। इसका नाम 'जय' था। इसमें श्रीकृष्ण की चर्चा मानव के रूप में थोड़ी थी। उसके बाद यह ग्रंथ पचीस हजार श्लोकों में हुआ, और नाम हुआ भारत। इसमें श्रीकृष्ण की लीला में अलौकिकता लायी गयी। और जब इसमें एक लाख श्लोक हुए, तब इसका नाम 'महाभारत' हुआ और इसमें श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म रूप में उभरकर आये। प्रक्षेप के लिए केवल तीन उदाहरण लें। महाभारत के सभापर्व में जहां श्रीकृष्ण की अग्रपूजा पर शिशुपाल ने उनको कटु शब्द कहे हैं, वहां भीष्म ने उसके आक्षेपों का उत्तर दिया है। यह अड़तीस (38)वां अध्याय है। जिसमें कुल तैंतीस (33) श्लोक हैं। परन्तु इसमें 29 और 30 श्लोकों के बीच में 728 श्लोक[2] घुसेड़ दिये गये हैं जिनमें भागवत के अनुसार कृष्ण के चरित्र तथा उनके ईश्वरत्व का वर्णन है। अतएव महाभारत में कृष्ण के लिए गोपीजनप्रिय शब्द पीछे से प्रवेश किया गया है। अनुशासन पर्व के 145वें अध्याय में मूल श्लोक 64 हैं तथा प्रक्षेप 1209 और आश्वमेधिक पर्व

---

1. **जिस संस्करण में खिलभाग है उसमें यह वर्णन 8/96/13-16 में पड़ता है।**
2. **इसे गीताप्रेस के संस्करण में देख सकते हैं।**

के 92वें अध्याय में 53 श्लोक मूल हैं और 1220 श्लोक प्रक्षेप। एक किलो दाल में पचास किलो नामक खाया गया है।

एक महत्त्वपूर्ण बात, जब पांडवों द्वारा उनके राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा हुई है, तब उसे देखकर चेदिनरेश शिशुपाल नहीं सह पाया है और उसने श्रीकृष्ण की अवहेलना करके उन्हें बड़े कटु शब्द सुनाये हैं। उसने उस समय श्रीकृष्ण को स्त्रीहंता और गोहंता भी कहा है। लगता है इस कथा के उदय होने तक श्रीकृष्ण की बाललीला में जो पूतनावध तथा वृषभासुर वध आये हैं, वे आ चुके थे। परन्तु अभी तक रास की कल्पना नहीं की गयी थी। इसलिए शिशुपाल ने जहां श्रीकृष्ण को बहुत गालियां दी हैं, वहां उन्हें रसिया तथा परस्त्रियों को लेकर नाचने वाला नहीं कह सका है। यदि श्रीकृष्ण रास किये होते तो इसको लेकर शिशुपाल उनकी धज्जियां उड़ा डालता। अतएव श्रीकृष्ण के साथ रास जोड़ना उनके साथ, भारतवर्ष के सथ, हिन्दू समाज के साथ तथा मानवता के साथ अक्षम्य अपराध करना है।

वस्तुत: हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व के बीसवें अध्याय में पन्द्रहवें से पैंतीसवें—कुल इक्कीस श्लोकों में रास की चर्चा पहली बार आयी है। पीछे श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के वंतीसवें से तैंतीसवें—पांच अध्यायों तथा 174 श्लोकों में रासलीला का ज्यादा अश्लील रूप उभरा है। परन्तु इन सबमें 'राधा' की कल्पना नहीं है। इसके बाद ब्रह्मवैवर्त पुराण में सविस्तार रास का वर्णन है तथा वहां राधा भी आ उपस्थित हुई हैं। इसके बाद विशालकाय ग्रंथ गर्ग-संहिता की रचना हुई, जिसमें श्रीकृष्ण की खरबों-खरबों पत्नियां एवं प्रेमिकाओं की कल्पना की गयी। इसके बाद बंगाल के भक्त जयदेव ने गीतगोविंद लिखकर उसमें कृष्ण-गोपी के सम्बन्ध में अश्लील वर्णन किया। इसके पश्चात भागवत के काल्पनिक शृंगाररस की भावना को कविकुल भूषण सूरदास ने हिन्दी काव्य में खूब उभारा। उनका 'भ्रमरगीत' काव्य देखने योग्य है। इसके बाद कवि रत्नाकर एवं रसाल के ''उद्धव शतकों'' में यह धारा बहती हुई बहुमुखी हो गयी और आज के छोटे-छोटे फिल्मी-गैर-फिल्मी कवि भी राधा-माधव तथा असंख्य गोपियों और कृष्ण के रंगरास गाने लगे।

श्रीकृष्ण के चरित पर प्रकाश डालने वाले वेद, उपनिषद्, महाभारत तथा गीता जब रासलीला का नाम तक नहीं लेते हैं तब किस प्रमाण से पीछे के पंडितों ने हरिवंश, भागवत आदि पुराणों में उसकी चर्चा कर कृष्ण चरित की हत्या की है? वस्तुत: यह मलिन पंडितों के मन की भड़ास है।

आजकल के कुछ विद्वान, ज्ञानी एवं महात्मा कहलाने वाले लोग रास का समर्थन करके कहते हैं कि यह भगवान की गुह्यतमगुह्य लीला है। आप भागवत का रास पंचाध्यायी पढ़कर देख सकते हैं कि वह आजकल के नाइट-क्लब के

डांस से भी अत्यन्त अश्लील एवं भ्रष्ट है। भागवतादि में जैसा रास का वर्णन है वैसा क्या दस वर्ष का बच्चा कर सकता है? क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय दस वर्ष के थे। इसे ईश्वर की गुह्यतमगुह्य लीला कहकर अपने भोलापन में हिन्दू समाज को धोखा देना है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—"बड़ा व्यक्ति जैसा करता है छोटे लोग वैसे ही करते हैं। वह जैसा आदर्श स्थापित कर देता है, संसार उसी का अनुसरण करता है।"[1] आश्चर्य है कि जो रास को माने और रासलीला करवाये, वह आस्तिक है और जो इसको न माने तथा इससे दूर रहे वह नास्तिक है। ऐसी स्थिति में भारत की पूरी जनता को इस विषय में नास्तिक हो जाना चाहिए। तभी वह अपने महान पुरुष पर लगाये गये इस लांछन को मिटा पायेगी।

6. क्रान्तिकारी श्रीकृष्ण

ऋग्वेद के 8वें मंडल के 85वें[2] सूक्त के 13 से 16 मंत्रों में एक गरिमामय कृष्ण का पता चलता है। यह सूक्त इन्द्र की महिमा में है। ऋषि इन्द्र की महिमा में कहते हैं—अंशुमती (यमुना) नदी के किनारे कृष्ण नाम का एक वीर रहता था उसके साथ दस हजार सेना थी। वह घोर गर्जन करनेवाला, तीव्रगामी, अंशुमती नदी के तट पर गूढ़ स्थानों पर तथा उसके विशाल क्षेत्र में विचरने वाला और सूर्य के समान अवस्थान-प्रस्थान करने वाला था। इन्द्र ने अपनी बुद्धि से उसका पता लगाया और उसकी सेना का विनाश किया तथा उसे परास्त किया।

आर्यों के यज्ञों में पशुवध होता था। इन्द्र आर्यों का नायक तथा यज्ञ और पशुवध का समर्थक था। श्रीकृष्ण भारत में प्रथम अहिंसक गोपालक थे। वे इसलिए यज्ञ के भी विरोधी थे। इसका स्पष्टीकरण पुराणों तथा गीता में आया है जिसे हम आगे इस निबन्ध में देखेंगे। इसी से इन्द्र कुपित होकर कृष्ण और यादवों को सताने की चेष्टा करता था। ऋग्वेद के उक्त स्थल पर श्रीकृष्ण इन्द्र के विरोधी तथा यमुनातट विहारी, अत्यन्त तेजवान, तीव्रगामी और एक महान सेना के नायक हैं। यह सेना यादव परिवार है।

वेद के टीकाकारों द्वारा जो उक्त कृष्ण को असुर कहा जाता है, तो यह स्वाभाविक भी है। जो यज्ञ का विरोधी होगा, वह इन्द्र तथा आर्यों की दृष्टि में असुर होगा ही। वैसे वेदों में असुर बलवान को भी कहते हैं और ऐसे स्थल बहुत हैं। ऋग्वेद (10/93/14) में जहां तीन धनवान राजा पृथु, वेन तथा

---

1. **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
   स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ गीता 3/21॥
2. **जिस संस्करण में खिल भाग है, उसमें यह विषय 96वें सूक्त में पड़ता है।**

दु:शीम के साथ राम का नाम आया है वहां राम के नाम में असुर विशेषण है। असु 'प्राण' को कहते हैं। प्राण का अर्थ बल है। अतएव जो बलवान है, वह असुर है। ऋग्वेद (3/55) के कुल 22 मंत्रों के अन्त-अन्त में इस अंश को दोहराया गया है—"महद्देवानामसुरत्वमेकम्" अर्थात महान देवताओं का असुरत्व (बल) एक ही है।

प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान आचार्य चतुरसेन लिखते हैं—"कृष्ण वैदिक काल में ही गोरक्षक थे। इन्द्र आदि देवगणों की पशु-यज्ञ-प्रथा उन्हें पसन्द न थी। इसी से उन्होंने इन्द्र का विरोध किया था। यदि कृष्ण ने इन्द्र की अधीनता स्वीकार ली होती तो इन्द्र से झगड़ा ही न होता तथा दिवोदास की भांति वह भी ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये होते।"[1]

सर राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथ भारतीय दर्शन में लिखा है—"इंद्र का एक अन्यतम शत्रु ऋग्वेद के काल में कृष्ण था; जो कृष्ण नामक वन्यजातियों का देवतास्वरूप वीरनायक था। छंद इस प्रकार है—'फुर्तीला कृष्ण अंशुमती (यमुना) के किनारे अपनी दस सहस्र सेनाओं के साथ रहता था। इंद्र ने अपनी बुद्धि से ऊंचे स्वर से चीत्कार करने वाले इस सरदार का पता लगाया। उसने हमारे लाभ के लिए इस लूट-मार करने वाले शत्रु का विनाश किया।' सायणाचार्य ने इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है और यह कथा कृष्ण-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अपना कुछ महत्त्व रखती है।"[2]

श्रीकृष्ण एक स्वतन्त्र चिन्तक एवं क्रांतिकारी पुरुष थे। वे मुट्ठीभर आर्य नामधारियों को ही मनुष्य नहीं मानते थे, किन्तु जंगली आदिवासियों को भी मनुष्य मानते थे और उन्हें भी वे उतना ही श्रेय देते थे। इसीलिए वे अपनी दस हजार सेना के साथ आर्यनायक इन्द्र से लोहा लेते थे। और इतना ही नहीं, वे पशुओं पर भी दयालु थे। देवताओं तथा ईश्वर के नाम पर निरीह पशुओं को काटना, इस निर्दयता के वे घोर विरोधी थे। यह प्रेरणा उनको उनके सद्गुरु घोर आंगिरस से मिली थी। श्रीकृष्ण के कुलगुरु गर्गाचार्य थे, शिक्षागुरु सांदीपनि थे[3] तथा अध्यात्मगुरु अर्थात सद्गुरु घोर आंगिरस थे।[4]

छांदोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के सतरहवें खंड में घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र कृष्ण को यज्ञ के नाम पर आत्मज्ञान का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि यह जीवन ही यज्ञ है। घोर आंगिरस ने जीवन को ही यज्ञ बताकर

---

1. **वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव, पृष्ठ 197।**
2. **भारतीय दर्शन, भाग 1, पृष्ठ 79, सन् 1969 का छपा।**
3. **हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय 33। भागवत 10/45।**
4. **छांदोग्य उपनिषद् 3/17।**

श्रीकृष्ण को बाहरी यज्ञ से मानो विरत कर दिया। उन्होंने कृष्ण से कहा कि जो व्यक्ति तप, दान, सरलता, अहिंसा एवं सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, मानो उसका जीवन ही दक्षिणा का जीवन है। यह ध्यान देने योग्य है कि घोर आंगिरस ने तप, दान, सरलता तथा सत्य वचन के साथ अहिंसा को भी लिया है जो तात्कालिक हिंसापरक यज्ञ का विरोधी है। उन्होंने कहा कि तप, दान, सरलता, अहिंसा तथा सत्य वचन का जीवन में आचरण करना मानो गुरु को सच्ची दक्षिणा देना है।[1]

जीवनयज्ञ के इस रहस्य को जब घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र कृष्ण को समझाया तब उसकी पिपासा एवं तृष्णा शांत हो गयी।[2] अंततः घोर ऋषि ने कृष्ण से कहा कि अंत समय के लिए, जीवन की पूरी ऊंचाई तक पहुंचने के लिए अथवा अन्त वेला आने पर अपने मन में यह विचार करे, अपने आप को इन तीन गुणों से सम्पन्न समझे अथवा अपने आप को सम्बोधित करके विचार करे कि तू अक्षत (अविनाशी) है, अच्युत (एकरस) है और प्राणसंशित अर्थात प्राण से भी तेजवान एवं सूक्ष्म है।''[3]

उपर्युक्त क्रांतिकारी एवं सच्चा ज्ञान जो अपने गुरु से श्रीकृष्ण को मिला वह उनके दादागुरु ऋषि अंगिरा से ही आया था। अर्थात ऋषि अंगिरा से घोर आंगिरस को तथा घोर आंगिरस से श्रीकृष्ण को मिला। श्रीकृष्ण के दादागुरु अंगिरा का वर्णन तथा उनके उपदेश मुण्डक उपनिषद् में हैं। नैमिषारण्य-निवासी महर्षि सौनक जी थे। उनके गुरुकुल एवं विश्वविद्यालय में (पुराणों के अनुसार) अट्ठासी (88) हजार ऋषि एवं विद्यार्थी निवास करते थे। परन्तु वे स्वयं सत्यज्ञान एवं विद्या को जानने के लिए महर्षि अंगिरा के पास गये और उन्होंने उनसे पूछा कि विद्याएं कितनी हैं? महर्षि अंगिरा ने कहा—विद्याएं दो प्रकार की हैं। एक 'परा' तथा दूसरी 'अपरा'। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—ये अपरा विद्या एवं सांसारिक विद्या हैं और जिससे अक्षर, अक्षय एवं अविनाशी का ज्ञान होता है वह आत्मज्ञान ही 'परा' विद्या है।[4]

यह अंगिरा के क्रांतिकारी विचार हैं। वे चारों वेदों और छहों वेदांगों को सांसारिक विद्या बताते हैं। वे आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान को ही परा विद्या एवं उच्चतम विद्या बताते हैं।

---

1. **अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।**
2. **तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव।**
3. **सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।**
4. **मुण्डक उपनिषद् 1/1/3-5।**

वे आगे कहते हैं कि वैदिक कवि लोग रूढ़िवादी कर्मकांड, हवन-यज्ञ को ही श्रेष्ठ बताते हैं और उसका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि यज्ञ की तेजोमय आहुतियां ऐसी मीठी-मीठी बातें करती हैं—''प्रियाम् वाचम् अभिवदन्त्यः'' कि इन यज्ञ-कर्मों के पुण्य से ही तुम्हें ब्रह्म-लोक मिल जायेगा।[1]

परन्तु महर्षि अंगिरा इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यह अठारह[2] प्रकार वाली यज्ञरूपी नावका निश्चित ही जीर्णशीर्ण एवं टूटी-फूटी है। क्योंकि इसके कर्म नीच, हिंसा-युत एवं प्रपंचपूर्ण हैं। अतएव जो मूर्ख लोग इसी को श्रेष्ठ मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं, वे संसार-सागर से न तरकर बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। ऐसे लोग पड़े रहते तो हैं अविद्या में, परन्तु अपने आप को मानते हैं ज्ञानी और पंडित। जैसे अन्धा अन्धे को चलाये वैसे ये मूर्ख लोग एक दूसरे की पूंछ पकड़े हुए भटकते और ठोकरें खाते हैं। वे मूर्ख लोग अविद्या में अनेक प्रकार से डूबे रहते हैं और माने रहते हैं कि हम कृतार्थ हैं। वे यज्ञकर्म करने वाले विषयासक्ति-वश सत्यतत्त्व को नहीं जानते। इसलिए वे दुखों से आतुर होकर बारम्बार नश्वर भोगों से निराश होकर पतित होते हैं।[3]

इन्हीं सब का फल है कि श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं ''हे अर्जुन! जो अज्ञानी हैं, वेदों के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे इस प्रकार के सेमल-फूल जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी

---

1. मुण्डक उपनिषद् 1/2/1-6।
2. यज्ञ की टूटी नावका के साथ अठारह की संख्या आयी है। यज्ञ करने में मुख्य चार पुरोहित होते हैं-ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु। इनके तीन-तीन सहायक होते हैं। इस प्रकार सब सोलह पुरोहित हो जाते हैं और यजमान एवं उसकी पत्नी-ये दो। इस प्रकार यज्ञ के ये अठारह अंग हैं। दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, सोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि मुख्य अठारह यज्ञ भी अर्थ हो सकता है कि जो मुख्य अठारह यज्ञ हैं, टूटी नावका के समान हैं।
3. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
   अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
   जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथांधाः।
   अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्तिबालाः॥
   यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ मुण्डक 1/2/7-9 ॥

शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्मविधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेदवाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है। अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपनिमग्न हो जा। जब सब ओर जल ही जल भरा हो, तब छोटी तलैया से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ज्ञानी को सभी वेदों से रहता है। अर्थात जब सर्वत्र स्वच्छ जल उपलब्ध है तब छोटी तलैया के पास क्यों जाये! इसी प्रकार जब आत्मज्ञान में निमग्न हो गया तब वैदिक कर्मकांड से क्या प्रयोजन।[1] वस्तुतः भौतिक वस्तुओं द्वारा किये हुए यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें सारे कर्मों का अन्त है। अतएव किसी ज्ञानी पुरुष की शरण लेकर, उसकी सेवा करके और उससे प्रश्न करके समझो। तत्त्वदर्शी पुरुष उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।''[2]

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण में पूर्ण ईश्वरत्व प्रतिष्ठित करता है। अत्यन्त भावुकतापूर्वक इस पुराण की रचना हुई है। परन्तु इस पुराण का लेखक भी श्रीकृष्ण के क्रांतिकारी स्वरूप को चित्रित करने के लिए विवश हुआ है। एक कथा लें—

नन्द बाबा गोकुल में किसी उत्सव की तैयारी में लगे हैं। बहुत वस्तुएं इकट्ठी की जा रही हैं। लोगों में बड़ी गहमागहमी है। श्रीकृष्ण पूछ पड़ते हैं—''पिताजी! यह सब क्या हो रहा है? संसार के लोग समझे-बे-समझे बहुत प्रकार के अनुष्ठान एवं कर्म करते रहते हैं। पिताजी! आप लोग किस पूजा-पाठ की तैयारी कर रहे हैं?''

नन्द बाबा ने कहा—''बेटा! इन्द्र हमारे परम देवता हैं। वे जल की वर्षा करते हैं जिससे वन में घास होती है और उसे हमारी गायें चरकर पलती हैं और वर्षा से ही हमारी खेती होती है। हम इन्द्र की कृपा से ही सुखी रहते हैं। अतः हम हर वर्ष इन्द्र की पूजा करते हैं, यज्ञ करते हैं। यह हमारी कुल परम्परा का धर्म है।''

श्रीकृष्ण ने कहा—''पिताजी! जीव अपने कर्मों के अनुसार ही जन्म तथा मृत्यु पाता है। वह अपने कर्मानुसार ही जीवन में सुख-दुख पाता है, भय और मंगलमयता पाता है। यदि यह माना जाये कि जीवों के कर्मों के फलों का देने

---

1. गीता 2/42-46।
2. गीता 4/33-34।

वाला ईश्वर है, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि जो जीव के कर्म हैं उन्हीं के अनुसार ईश्वर उसे फल देगा। कर्म न करने वालों पर ईश्वर की कोई प्रभुताई नहीं चल सकती। ईश्वर नाम लो या इन्द्र, जीव द्वारा किये गये कर्मों के फलों को वह बदल नहीं सकता। फिर उससे क्या प्रयोजन रहा? पिताजी! 'कर्मैव गुरुरीश्वर:' कर्म ही जीव का गुरु है, कर्म ही ईश्वर है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे। किसी देव के पूजा-पाठ में अपना समय न नष्ट करे।

''व्यवहारत: देखा जाये तो मनुष्य की जीविका जिससे चलती है वही उसका देवता है। जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष से राग करे, तो यह उसकी भ्रष्टता है, वैसे मनुष्य अपनी आजीविका के धन्धे को छोड़कर किसी देवी-देवता के पूजने के चक्कर में पड़े तो यह उसका भटक जाना है और इससे उसे उचित फल नहीं मिल सकता। हम लोग सदा से गोपालक हैं। हमारा धन्धा ही गोपालन तथा खेती-बारी है। न हमारे पास राज है, न नगर और न कोई गांव या घर ही। हम तो वनवासी हैं। पहाड़ ही हमारा घर है। अत: हम पूजा ही करें तो पहाड़ की करें, वन की करें, जिनसे हमारी जीविका चलती है। इन्द्र की पूजा में जो सामग्री इकट्ठी की गयी है उनसे अच्छे-अच्छे पकवान बनाये जायें, और उन्हें मनुष्यों, पशुओं, कुत्तों आदि प्राणियों को खिलाया जाये, गायों को चारा दिया जाये और स्वयं हम सब खूब खा-पीकर तथा सज-धज कर गोवर्धन पर्वत की पूजा करें, उत्सव मनायें, जहां हमारी गायें चरती हैं।

''इंद्र या ईश्वर पानी बरसाता है, यह मानना तो एकदम भोलापन है। वस्तुत: संसार में उत्पत्ति, स्थिति और अन्त क्रमश: रज, सत तथा तम गुणों से होते हैं। स्त्री-पुरुषों के संयोग से रजोगुण द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति के रजोगुण द्वारा ही मेघ जल बरसाते हैं। उसी से अन्न होता है तथा अन्न से प्राणियों का जीवन चलता है। इसमें इन्द्र का क्या लेना-देना। इन्द्र बेचारा क्या कर सकता है।''[1] श्रीकृष्ण और कहते हैं—''जिनका सदाचार क्षीण है, जो अपने इष्ट देव को सभी प्राणियों के हृदयों में न देखकर केवल जड़ मूर्तियों में देखते हैं, उन्हें संतसेवा का सौभाग्य कहां मिल सकता है। नदियां तीर्थ नहीं हैं, मिट्टी-पत्थर की मूर्तियां देवता नहीं हैं। वस्तुत: संतजन ही तीर्थ और देवता हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु आदि के पूजने से न पाप नष्ट होता है और न अज्ञान का नाश होता है। पाप-ताप एवं अज्ञान का नाश तो निर्मल संतों के चरणों में ही है। जो व्यक्ति शव-तुल्य शरीर को अपना आपा समझता है, स्त्री-पुत्रादि की ममता करता है,

---

1. **श्रीमद्भागवत, स्कंध 10, अध्याय 24।**

मिट्टी-पत्थर-काष्ठादि की जड़ मूर्तियों को देवता मानता है और जलमय नदियों को तीर्थ समझता है, वह मनुष्य रूप में दिखाई देने पर भी गधा ही है।[1] जो निष्पक्ष, मननशील, शांत, निर्वैर और समदर्शी सन्त हैं, मैं उनके पीछे-पीछे इसलिए घूमा करता हूं कि उनके चरणों की रज मेरे अंगों में पड़ जाये और मैं पवित्र हो जाऊं।[2] वैदिक कर्मकांडों की बड़ाई न करे, पाखंड न करे, तर्क-वितर्क न करे और जहां नीरस बकवाद होती हो उसमें न पड़ें।''[3]

इस प्रकार महाराज श्रीकृष्ण का स्वरूप महान क्रांतिकारी है!

7. कंस-निपात

श्रीकृष्ण जी अपने मामा राजा कंस के कारावास में वसुदेव-देवकी पिता-माता से जन्में थे, और गोकुल में नन्दबाबा के यहां पले थे। पाठक सोच सकता है कि जिसका जन्म ही कारावास में हुआ हो और जो अपने माता-पिता से अलग पाला-पोषा गया हो, उसके संस्कार किस प्रकार निर्मित होंगे। वह अपने माता-पिता को कारावास में डालने वाले के विषय में क्या भाव रखेगा।

उधर श्रीकृष्ण के तेज की चर्चा सुनकर मथुरानरेश कंस घबड़ा रहा था। इधर श्रीकृष्ण का संघ बलवान होता जा रहा था। उनके तेजोमय व्यक्तित्व से सब उनके प्रेमी बन गये थे।

मथुरानरेश कंस ने अपने यहां एक उत्सव रचकर उसमें श्रीकृष्ण तथा उनके परिवार वालों को निमन्त्रित किया। कंस की इसमें कपट-नीति थी। वह इसी उत्सव में धोखा देकर कृष्ण की हत्या कराना चाहता था। श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर भेजे गये। श्रीकृष्ण, बलराम तथा नन्दबाबा सहित बहुत-से गोप मथुरा गये। इसी उत्सव में श्रीकृष्ण ने अपने मामा को समाप्त कर दिया। इसके बाद नाना उग्रसेन को कारावास से निकालकर उन्हें मथुरा की गद्दी पर बैठा दिया। कंस के समाप्त होने से यादव-कुल ने शांति की सांस ली। परन्तु इसके बाद वैर-विरोध का दूसरा क्रम आरम्भ हो गया।

8. जरासंध का मथुरा पर आक्रमण

मगधनरेश जरासंध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति थीं। वे दोनों मथुरानरेश कंस से व्याही थीं। जब श्रीकृष्ण द्वारा कंस मारा गया तब अस्ति और प्राप्ति विधवा हो गयीं और दुखी होकर अपने नैहर चली गयीं। मगधनरेश को अपनी पुत्रियों का विधवापन देखकर बड़ा शोक हुआ और फिर वह श्रीकृष्ण पर क्रोध से तिलमिला उठा।

---

1. श्रीमद्भागवत, स्कंध 10, अध्याय 84, श्लोक 10-13।
2. निरपेक्षं मुनिं शांतं निर्वैरं समदर्शनम्।
   अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥ भागवत 11/14/16॥
3. भागवत 11/18/30।

जरासंध बहुत बलवान राजा था। उसके पास बहुत बड़ी सेना थी। उसने अपनी सेना लेकर मथुरा पर हमला कर दिया और मथुरा-नगर को चारों ओर से घेर लिया। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपनी सेना लेकर जरासंध का सामना किया। बड़ा युद्ध हुआ, किन्तु युद्ध निर्णायक नहीं हुआ। जरासंध लौट गया। परन्तु उसने कुछ दिनों का अंतराल कर-करके मथुरा पर सत्तरह बार चढ़ाईयां कीं। इससे यादवों के धन-जन का काफी नुकसान हुआ। अंततः यादव बहुत निराश हो गये। मथुरा में यादवों की सभा हुई। उसमें श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकारा कि हम सौ वर्षों में भी जरासंध को परास्त नहीं कर सकते हैं। अतएव हमारा विचार उनसे हट जाने का है।[1]

मथुरा में यादवों का रहना जरासंध रूपी काल के मुख में रहना समझकर श्रीकृष्ण ने सुदूर पश्चिमी भारत में समुद्र से घिरे भू-भाग पर द्वारका नगर बसाया और यादव-परिवार को धीरे-धीरे वहां भेज दिया।

जरासंध ने कालयवन नामक वीर राजा तथा उसकी सेना के साथ मथुरा पर अठारहवीं बार चढ़ाई की। बलराम सहित श्रीकृष्ण कालयवन तथा जरासंध के भय से मथुरा से भाग निकले।[2] जरासंध ने पीछा किया। जब बलराम तथा कृष्ण थक गये, तब एक पर्वत पर चढ़कर छिप गये। जरासंध ने उस पर्वत में चारों ओर से आग लगवा दी। परन्तु कृष्ण और बलराम किसी प्रकार वहां से भागकर द्वारका चले गये। रण छोड़कर भागने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम रणछोड़ भी पड़ा।

9. श्रीकृष्ण के विवाह

श्रीकृष्ण बलराम तथा यादव-वंश सहित द्वारका में निश्चिंत होकर रहने लगे। विदर्भ देश (आज का नागपुर क्षेत्र) के राजा भीष्मक थे। उनके पांच पुत्र तथा रुक्मिणी नाम की एक पुत्री थी। रुक्मिणी अपना विवाह श्रीकृष्ण से चाहती थी और उसके बन्धु-बांधव भी यही चाहते थे, परन्तु केवल बड़ा भाई रुक्मी, श्रीकृष्ण से द्वेष होने के कारण उन्हें अपनी बहिन नहीं देना चाहता था। रुक्मी चेदि देश (आज का जबलपुर क्षेत्र) के राजा शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाह करना चाहता था। शिशुपाल श्रीकृष्ण की बुआ के पुत्र थे। शिशुपाल भी श्रीकृष्ण का घोर विरोधी था। अंततः रुक्मी के दबाव में आकर उनके पिता भीष्मक ने शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह तय कर लिया। शिशुपाल बरात सजाकर विदर्भ पहुंच भी गये, परन्तु रुक्मिणी ने एक ब्राह्मण को दूत के रूप में द्वारका भेजकर श्रीकृष्ण को बुला लिया, और श्रीकृष्ण

---

1. **हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 56, श्लोक 11।**
2. **हरिवंश, विष्णुपर्व, 56/35।**

रुक्मिणी को देवदर्शन-स्थान से अपने रथ में बैठाकर द्वारका चले गये। इसमें रुक्मी आदि ने प्रतिरोध किया, परंतु श्रीकृष्ण से सब परास्त होकर लौट आये। इस प्रकार श्रीकृष्ण का रुक्मिणी से पहला विवाह हुआ। इससे शिशुपाल का श्रीकृष्ण से द्वेष बढ़ गया। क्योंकि यहां शिशुपाल का बड़ा अपमान हुआ। वह बेचारा बरात सहित दूल्हा बनकर रुक्मिणी को व्याहने गया था, किन्तु अपमानित होकर उसे लौटना पड़ा।

रुक्मिणी के बाद श्रीकृष्ण की सत्यभामा[1] आदि कुछ अन्य पत्नियां भी बतायी जाती हैं, परन्तु वे सब-की-सब विश्वसनीय नहीं हैं। राधा तो एकदम काल्पनिक हैं। उनका नाम महाभारत तथा हरिवंश में ही नहीं, भागवत तक में भी नहीं है। यदि श्रीकृष्ण की एक से अधिक पत्नियां थीं तो यह देश, काल एवं परिस्थिति के कारण थीं। उनके साथ हजारों पत्नियां जोड़ना तो लेखकों के अविवेक का फल है। श्रीकृष्ण का पूरा जीवन राजनीतिक एवं धार्मिक आंदोलन तथा आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण था। अत: वे विलासी नहीं हो सकते। ''उनका हिमालय में बारह वर्ष तक तप करना भी बताया जाता है।''[2]

10. युगपुरुष राजनेता

श्रीकृष्ण युगपुरुष राजनेता थे और महान योद्धा थे। उस समय भारतवर्ष में अनेक क्रूर राजाओं का साम्राज्य था। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सब को परास्त कर राज्य-व्यवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। पहले पहल उन्होंने अपने मामा कंस को मारकर पुन: अपने नाना उग्रसेन को गद्दी पर बैठाया। मगध की राजधानी गिरिव्रज में जरासंध को मरवाकर उसके पुत्र जरासंधि सहदेव को गद्दी पर बैठाया। अपने फुफेरे भाई चेदिनरेश शिशुपाल को मारकर उसके पुत्र धृष्टिकेतु को माहिष्मती की गद्दी पर बैठाया। नग्नजित के पुत्रों को हराकर गांधार देश को स्वतन्त्र किया। सौभनगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। बलवान पांड्यराज को पछाड़ा। प्राग्ज्योतिष-दुर्ग में भौमनरक नामक राजा का क्रूर शासन था। उसने एक हजार कन्याओं को अपने बंदीगृह में डाल रखा था। उसकी राजधानी निर्मोचन में ही उसकी सेना सहित उसको मारकर कन्याओं को मुक्त करवाया, तथा कामरूप प्रदेश को मुक्त किया। कलिंगराज, काशिराज और वाणासुर—सब श्रीकृष्ण के सामने परास्त हुए।

जैसा कि पहले वर्णन कर आये हैं कि यादवों में अनेक वंश थे। परन्तु उनमें मुख्य दो वंशों का वर्चस्व था—वृष्णि और अंधक। कृष्ण वृष्णि-वंश के थे तथा अक्रूर अंधक-वंश के। अंधक और वृष्णि-वंशियों का एक सम्मिलित

---

1. **हरिवंश, विष्णुपर्व, 60/40-44।**
2. **हरिवंश, भविष्यपर्व, अध्याय 84।**

गणराज्य था। कहा जाता है कि ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिन पर ''वृष्णि राजन्यगणस्यतात्रारस्य'' खुदा है, जिससे वृष्णि राज्य का प्रमाण मिलता है। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी (4/1/114) तथा बौद्ध साहित्य में भी अंधक और वृष्णि-वंशियों का उल्लेख मिलता है।

अंधक और वृष्णि के सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण तथा अंधकों की ओर से वभ्रु उग्रसेन संघप्रधान चुने गये थे। वृष्णियों की ओर से आहुक तथा अंधकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। समय-समय पर इन दोनों पक्षों में बड़े उत्तेजक भाषण होते थे।

11. महाभारत युद्ध

कौरव-पांडव एक परिवार के सदस्य थे। परन्तु उनमें आपस में कलह था। कलह इतना उग्र रूप ले लिया कि परस्पर युद्ध की दशा आ गयी। श्रीकृष्ण ने इसे रोकने का प्रयास किया परन्तु सफलता नहीं मिली। लोग यह भी मानते हैं कि यदि श्रीकृष्ण एकदम युद्ध न चाहते तो वह रुक सकता था। परन्तु यह तो अपना-अपना विचार है। वस्तुत: कौरव-पांडवों में इतना विनश चुका था कि युद्ध रुकना कठिन था। सब जानते हैं कि अंतत: युद्ध हुआ, और उसका परिणाम बुरा होना ही था। अधिकतम लोग कटकर मर गये। जो बचे, वे अंतर्दाह से जलते रहे।

12. यादव-कलह

इधर द्वारका में यादव-वंश अत्यन्त बढ़ गया था। उस समय भारतवर्ष में उन्हीं का वर्चस्व था। श्रीकृष्ण के तेज से यादव-वंश चमक रहा था। जिनकी कृपा एवं पौरुष से सफलता मिलती है उन महापुरुषों को तो अहंकार नहीं होता है, परन्तु प्राय: अनुगामियों को अहंकार हो जाता है। श्रीकृष्ण के तेज से यादवों का भारत तथा भारतेतर देशों में वर्चस्व हुआ परन्तु उन्हें कोई अहंकार नहीं था, किन्तु यादवों को घोर अहंकार हो गया था। इस घोर अहंकार के कारण वे आपस में ही एक-दूसरे के प्रति काफी कटु हो गये थे।

13. देवर्षि नारद की श्रीकृष्ण को सम्मति

श्रीकृष्ण की अवस्था कोई 119 वर्ष की रही होगी। वे बूढ़े हो गये थे, और अपने यादव-परिवार के कलह से तंग आ गये थे। अत: वे नारद के पास गये और उन्होंने अपनी बात कहीं—''जो सुहृद (स्नेहयुत हृदयवाला) न हो, सुहृद होने पर भी पंडित (समझदार) न हो और समझदार होने पर भी जिसने मन को अपने वश में न किया हो, वह गुप्त बातें सुनने योग्य नहीं होता। आप सुहृद, पंडित और स्ववश मन वाले हैं, इसलिए मैं आपसे अपना दुखड़ा सुना रहा हूं।

''मैं अपने परिवार में अपनी प्रभुता नहीं जमाना चाहता और न परिवार वालों को अपना दास ही बनाना चाहता हूं। मुझे जो भोग की सामग्री मिलती है, उसका आधा ही अपने प्रयोग में लेता हूं, शेष परिवार वालों के लिए छोड़ देता हूं और उनकी कही हुई कटु बातों को भी क्षमा कर देता हूं। जैसे कोई आग पैदा करने के लिए दो लकड़ियों को मथता है, वैसे मेरे कुटुम्बी जनों के कटुवचन मेरे हृदय को सदैव मथते एवं जलाते रहते हैं। बड़े भाई बलराम अपने बल के घमण्ड में चूर रहते हैं, छोटे भाई गद इतने सुकुमार बनते हैं कि कुछ करना नहीं चाहते और पुत्र प्रद्युम्न तो अपने रूप-सौंदर्य के नशा में ही मतवाला बना रहता है। इस प्रकार मेरे इतने सहायक होने पर भी मैं असहाय बना रहता हूं।

''अंधक और वृष्णि वंश में बड़े-बड़े वीर हैं। अंधक की ओर से अक्रूर तथा वृष्णि की ओर से आहुक अपने-अपने सदस्यों का नेतृत्व करते हैं, परन्तु अक्रूर और आहुक ने आपस में इतना वैमनस्य बढ़ा लिया है कि इससे मेरा रास्ता ही रुक गया है। मैं इनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। मेरी दशा तो उन दो जुआरियों की मां की तरह है, जो एक की तो जीत चाहती है और दूसरे की हार नहीं चाहती। इस प्रकार मैं दोनों पक्षों का हित चाहता हूं और दोनों ओर से कष्ट पाता रहता हूं। कृपया आप मेरी तथा मेरे परिवार की भलाई के लिए कोई रास्ता बताने का कष्ट करें।''[1]

नारद जी ने कहा—''हे वार्ष्णेय श्रीकृष्ण! विपत्तियां दो प्रकार की होती हैं, एक आन्तर, दूसरी बाह्य, अर्थात एक सीधे अपनी करतूति से आती है और दूसरी का निमित्त कोई बाहरी कारण बन जाता है। आपके ऊपर आयी विपत्ति आप तथा आपके परिवार की करतूति का फल है। आपके सामने ऐसी समस्याएं आयीं कि आपको जीवनभर विभिन्न राजाओं से लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। आपने अपने परिवार वालों को भी जीवनभर लड़ाइयां सिखायीं। वे भी जीवनभर कहीं-न-कहीं लड़ते रहे। अब बाहर की लड़ाइयां समाप्त हो गयी हैं और परिवार वालों में लड़ने की आदत है, तो अब वे आपस में लड़ते हैं। जिस परिवार के लोग दूसरों से लड़ते हैं, वे चार दिन के बाद आपस में लड़ते हैं। कंस को मारने के बाद यादवों का राज्य आपके हाथ में आ गया था, परन्तु आपने किसी प्रयोजन से, स्वइच्छा से या कटुवचन के डर से उसे अंधक श्रेष्ठ उग्रसेन तथा अक्रूर के हाथ में दे दिया। अब उनका राज्य बलवान हो चुका है। उग्रसेन के उनके वंश वाले सहायक हैं। आप इतना बलवान होकर भी राज्य लौटा नहीं सकते। वृष्णिवंशियों को अंधक वंश का वर्चस्व सहन नहीं हो रहा है इसलिए दोनों आपस में लड़ते हैं।

---

1. **महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 81, श्लोक 3-12।**

''हे कृष्ण! अब आप ऐसे कोमल अस्त्र से, जो लोहे का न बना होने पर भी हृदय को छेद डालता है, परिमार्जन-अनुमार्जन करके उन सभी की जीभ उखाड़ लें।[1] यह मीठा वचन ही बिना लोहे का बना शस्त्र है। भोजन देना, सत्कार करना, सहनशीलता, सरलता एवं कोमलता का बरताव करना—यह सब बिना लोहे के बने शस्त्र हैं। जब आपके बन्धु-बांधव एवं अनुयायी आपको ओछी एवं कड़वी बातें सुनाना चाहें, तब आप अपने मधुर वचनों से उनके मन और वाणी को शांत कर दें।

''जो विशेष सद्‌गुणों से सम्पन्न नहीं है, जो स्ववश मन वाला नहीं है तथा जिसके सहायक लोग नहीं हैं, वह कोई भारी काम नहीं कर सकता। समतल भूमि पर सभी बैल भरी गाड़ी खींच लेते हैं, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर तो बलवान बैल ही खींच सकते हैं। आप बलवान हैं। आप यादववंश के मुखिया हैं। यदि इसमें फूट पड़ गयी तो पूरे संघ का विनाश हो जायेगा। आप ऐसा करें कि आपके रहते हुए इसका विनाश न हो।[2]

''जिसमें अच्छी समझदारी नहीं, जो क्षमाशील नहीं है, जिसने अपने मन-इन्द्रियों को अपने वश में नहीं किया है और जो धन-ऐश्वर्य एवं प्रतिष्ठा का त्याग नहीं कर सकता है, गण, संघ, परिवार एवं समाज उसकी आज्ञा के अधीन नहीं रह सकते हैं। वृष्णि, अंधक भोज, कुकुर आदि पूरा यादव-वंश आपसे प्रेम करता है। संसार के अन्य प्रतिष्ठित लोग भी आपका आदर करते हैं। आपके संरक्षण में ही यदुवंश फल-फूल सकता है।''

14. यादवों का विनाश

यादवों में घोर उन्माद बढ़ गया था। वे आपस में काफी कटु हो गये थे। मदिरा बनाने तथा पीने का बहुत प्रचलन हो गया था। इस प्रकार यादवों में परस्पर शत्रुता एवं मदिरापान का वातावरण देखकर श्रीकृष्ण ने राजा के द्वारा आज्ञा निकलवायी कि आज से मदिरा बनाना तथा पीना एकदम मना है। जो इस अपराध में पकड़ा जायेगा उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा।

परन्तु न तो मदिरा बनाना रुका और न पीना। एक दिन यादव लोग मदिरा पीकर इतना उन्मत्त हो गये थे कि एक दूसरे की निन्दा करने लगे। वे एक दूसरे की पुरानी खोटी-खोटी बातें याद कर और उन्हें उनको सुनाकर परस्पर उपहास करने लगे।

---

1. **अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।**
   जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च॥ शांतिपर्व, 81/19॥
2. **भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।**
   यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा कुरु॥ शांतिपर्व, 81/25॥

अन्ततः सात्यिक ने तलवार से कृतवर्मा का सिर काट लिया। इसके बाद उनमें परस्पर मारकाट शुरू हो गयी और यादव-वंश आपस में कटकर मर गया।[1]

उधर द्वारका को निरन्तर समुद्र काट रहा था। श्रीकृष्ण ने एक दूत हस्तिनापुर भेजकर अर्जुन को सन्देश दिया कि यहां से बचे हुए स्त्री-बच्चों एवं बूढ़ों को हस्तिनापुर ले जाओ। स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आने तक रुकने का विचार नहीं किया। वे सबको छोड़कर जंगल में चले गये और समाधिमग्न होकर एक पेड़ के नीचे लेट गये। एक वधिक ने दूर से हिरन समझकर बाण चला दिया। वह बाण श्रीकृष्ण को लगा और उनका उससे प्राणांत हुआ।

अर्जुन हस्तिनापुर से द्वारका आये। वे पहले वसुदेव से मिले। वसुदेव बहुत बूढ़े थे। उन्होंने अर्जुन से कहा कि जिनकी तुम बहुत प्रशंसा किया करते थे वे सात्यिक और प्रद्युम्न ही यादवों के विनाश के कारण बने। इसके बाद उपवास करके वसुदेव ने भी शरीर छोड़ दिया।

अर्जुन ने मृतकों का अन्त्येष्टि-संस्कार कराया। उन्होंने बलराम तथा श्रीकृष्ण के शव की भी खोज कराकर उनका भी अंत्येष्टि-संस्कार कराया। फिर बूढ़ों, स्त्रियों और बच्चों तथा धन-रत्न को गाड़ी-छकड़ों, घोड़ों-हाथियों पर लेकर अर्जुन ने हस्तिनापुर की यात्रा की। रास्ते में जंगली लोगों ने धन तथा स्त्रियों को लूट लिया। जो लोग बच गये, उन्हें अर्जुन ने हस्तिनापुर के आस-पास बसा दिया।

15. उपसंहार

संसार का स्वभाव है परिवर्तन। इसे कोई हस्ती रोक नहीं सकती। इसलिए यहां किसी वस्तु के स्थायित्व का भ्रम नहीं करना चाहिए। यहां कुछ भी नित्य रहने वाला नहीं है। किसी महापुरुष का शरीर भी नहीं रह जाता और न उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे ऐश्वर्य एवं जनसमूह ही रह जाते हैं। परन्तु उनका यशःशरीर, उनकी सुकीर्ति, उनके उत्तम आदर्श विश्व को युगों-युगों तक सत्प्रेरणा देते रहते हैं। यही उनके जीवन की महान सार्थकता है।

महाराज श्रीकृष्ण इस धरती के महान रत्न हैं। उनके जीवन का एक बहुत बड़ा हिस्सा युद्धमय होते हुए भी उनके पूरे जीवन में आनन्द की वंशी बजती रही। यही उनके वंशीधर होने की सार्थकता है। वे जीवन में दुखों एवं प्रतिकूलताओं को लेकर प्रायः क्षोभित नहीं होते हैं। यहां तक कि पूरे यादव-वंश के विध्वंस हो जाने पर वे वन में जाकर ध्यान एवं समाधि में लीन हो

---

1. **महाभारत, मौसलपर्व, अध्याय 1-3।**

जाते हैं। सचमुच वे अपने सद्गुरु घोर आंगिरस के अन्तिम उपदेश को याद रखते हैं। ''अन्तवेलायाम् एतत् त्रयम् प्रतिपद्येत्'' अन्त वेला के लिए यही तीन उपदेश थे सद्गुरु के कि तू ''अक्षितम् असि, अच्युतम् असि, प्राण-संशितम् असि''[1] अर्थात तू अविनाशी है, एकरस है और प्राण से भी तेज एवं सूक्ष्म है।

अन्त में किसी का अपना माना हुआ कुछ भी नहीं रह जाता है। बस, ''धातुः प्रसादान्महिमानात्मनः''[2] अर्थात आत्मा की निर्मलता द्वारा अपनी आत्मा में महिमावान होना ही जीवन की सार्थकता है। इसीलिए महाराज श्रीकृष्ण का गीता में प्रवचन है—

''सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर अपने आप में सन्तुष्ट, दुखों में उद्वेग-रहित, सुख की इच्छा से परे, राग, भय, क्रोध से रहित और शांत, सर्वत्र मोह को जीते हुए, अनुकूल-प्रतिकूल की निंदा-प्रशंसा से रहित, अपने इंद्रियों को वश में किये, सब कामनाओं से अतीत, ममता-रहित, अहंकार-रहित व्यक्ति स्थितिवान है। वही शांति-प्राप्ति का अधिकारी है।[3]

---

1. छांदोग्य उपनिषद्, 3/17/6।
2. कठउपनिषद्, 1/2/20।
3. गीता, 2/54-71।